18.3 संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

पाणिनि का परिचय

संस्कृत भाषा को व्याकरण शास्त्र की प्रसिद्धि के लिये पाणिनि का जन्म शालातुर–ग्राम (वर्तमान–लाहौर, पाकिस्तान में अटक के समीप) में हुआ था, इसीलिए पतञ्जलि ने इन्हें प्रायः 'शालातुरीय' कहा है। इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः ये 'दाक्षीपुत्र' भी कहे गये हैं। कथासरित्सार के अनुसार– ये वर्ष नामक आचार्य के शिष्य थे। पाणिनि–काल 500 ई० पू० में अनेक विद्वानों ने माना है किन्तु कुछ लोग इन्हें 700–600 ई० पू० के बीच रखने के पक्षधर हैं। डॉ० बेलवलकर इसी मत के प्रवर्तक थे। पाणिनि ने सम्भवतः'जाम्बवतीय' काव्य भी लिखा था।

पाणिनि का काल

यह बहुत जटिल प्रश्न है, फिर भी अनेक विद्वानों ने इसका समाधान अपने–अपने तर्कों से किया है।(1)पणिनि के काल की पूर्वसीमा यास्क का निरुक्त (700ई० पू०) तथा प्रतिशाख्यग्रन्थ हैं जो पाणिनि से पूर्व की रचनाएँ हैं। उनके समय ही उत्तर सीमा नन्दकाल में आविर्भूत कात्यायन (350 ई० पू०) हैं जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक लिखे हैं। (2) बृहत्कथा की परम्परा में पाणिनि और कात्यायन को समकालिक कहा गया है जिसे प्रमाण मानकर मैक्समूलर आदि पश्चात्त्य लेखकों ने पाणिनि को भी 350 ई० पू० में रखा था। किन्तु यह दोषपूर्ण मान्यता है क्योंकि चे कात्यायन के समय तक हो चुके थे, अतः दोनों के काल में दो तीन सौ वर्षों का व्यवधान अवश्य होगा अर्थात् पाणिनि को 600 ई० पू० मानना अनिवार्य है।(3)कुछ लोगों ने 'कुमारःश्रमणादिभिः' (पा० सू० 2/1/70) के आधार पर पाणिनि पर बौद्ध प्रभाव दिखाया है क्योंकि उक्त सूत्र के गण पाठ में स्त्रीलिङ्ग 'श्रमणा' शब्द आया है। बुद्ध ने ही श्रमण का प्रयोग करके स्त्रियों को भी श्रमणा(संन्यासिनी) बनने का विधान किया था।यह तर्कसंगत नहीं क्योंकि प्राचीन ब्राह्मण–ग्रन्थों में भी 'श्रमण' का प्रयोग है। (4) पाणिनी ने 'निर्वाणोऽवाते' (पा० सू० 8/2/50) सूत्र में 'निर्वाण' शब्द (त का नकार) का विधान 'शान्त या बूझा हुआ' के अर्थ में किया है– निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः। बौद्ध धर्म में यह मोक्ष के अर्थ में अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द है जो तृतीय आर्यसत्य माना गया है। बौद्ध धर्म से पाणिनि परिचित होते तो इस शब्द को इस अर्थ में अवश्य समझाते।(5) गोल्डस्कुटर तथा रामकृष्ण भण्डारकार ने पाणिनि का काल700 ई० पू०, श्रीपादकृष्ण बेलवलकर ने 700–600 ई० पू० तथा वासुदेव शरण अग्रवाल ने 500 ई० पू० के निकट माना है। डॉ० अग्रवाल ने तो पाणिनि की आयु 70 वर्ष मानकर उनके जीवन काल को निश्चित तिथियों के द्वारा निरूपित किया है। यहाँ न तो मैक्समूलर कीथ आदि के द्वारा स्वीकृत 350 ई. पू. को और न ही युधिष्ठिर मीमांसक के द्वारा निर्दिष्ट 2900 ई. पू. को पाणिनि का काल माना जा सकता है – ये अतिवादी मत हैं।

गोल्ड स्टूकर ने पाणिनि के वैदिक ज्ञान की मीमांसा करते हुए कहा था कि वे केवल तीन वेदों से परिचित थे; आरण्यक, उपनिषद्, प्रतिशाख्य, शतपथ, अथर्ववेद आदि से वे अपरिचित थे।इस मत का विस्तृत निराकरण पॉल थीमे, अग्रवाल आदि ने किया है।
वे मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद वाङ्मय पाणिनि के पूर्व विकसित हो चुका था। यह काल अवश्य ही 600 ई. पू. का रहा होगा। उस काल में संस्कृत में प्राच्य और उदीच्य नामक दो विभाषाएँ (बोलियाँ) प्रचलित थीं।

पाणिनि का योगदान

संस्कृत व्याकरणशास्त्र को पाणिनि का योगदान अमर है। इनका व्याकरण–प्रस्थान संस्कृत व्याकरण के सभी दस उपलब्ध प्रस्थानों में व्यापकता, गम्भीरता एवं स्वीकार्यता के कारण अग्रणी है। लौकिक संस्कृत के साथ वैदिक भाषा की तुलना एवं उनके शब्दों की सूक्ष्म विवेचना इनके व्याकरण की विशिष्टता है। अपनी प्रख्यात कृति **'अष्टाध्यायी'** में इन्होंने 3917 सूत्रों तथा 14 प्रत्याहार–सूत्रों के द्वारा तात्कालिक भाषा का जैसा सर्वेक्षण किया है, वैसा भाषा के किसी ग्रन्थ में नहीं है। अष्टाध्यायी आठ अध्यायों में विभाजित सूत्र ग्रन्थ है, प्रत्येक अध्याय को 4–4 पादों में विभक्त किया गया है। विषयों का क्रम प्रकरणों के अनुसार, अनुवृत्ति को ध्यान में रखकर, वैज्ञानिक ढ़ग से रखा गया है। यह अपरिचित भाषा को सिखाने वाली रचना नहीं है, अपितु प्रचलित भाषा के पदों का विवरण देने वाली कृति है। लोक तथा वेद में व्यवहृत प्रत्येक पद के प्रत्येक अक्षर की व्याख्या करना इसका लक्ष्य है।

अष्टाध्यायी को समझने के लिए उन्होंने कुछ सहायक ग्रन्थ भी परिशिष्ट के रूप में लिखे गणपाठ, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन तथा उणादि सूत्र। इन पाँचों का संयुक्त नाम है– पञ्चपाठी। इस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण प्रस्थान का प्रवर्तन इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के महान् उद्देश्य से किया था। यह कहा जाता है कि संस्कृत की समस्त शब्द सम्पदा नष्ट हो जाये तो भी अष्टध्यायी के द्वारा उसका पुनरुद्धार हो सकता है। पाणिनि के भाषिक तथा व्याकरणिक योगदान का आकलन निम्नांकित बिन्दुओं पर किया जा सकता हैः–

माहेश्वर सूत्र या प्रत्याहार सूत्र अष्टाध्यायी के आधार हैं। ये वर्णोपदेश के रूप में हैं जिनसे वर्ण संक्षेप के लिए प्रत्याहार बनते हैं जैसे– अण्, अच्, हल्, अक्, जश् आदि। उक्त 14 सूत्रों में संस्कृत की वर्णमाला अष्टाध्यायी के सूत्रों में उपयोग के लिए दी गयी है। स्वरों को मूल(अ,इ,उ,ऋ,लृ)तथा सन्ध्यक्षर (ए ओ ए औ) के रूप में बाँटकर व्यञ्जनों को अन्तःस्थ, स्पर्श (विपरीत क्रम से पंचम, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय और प्रथम के रूप में)तथा ऊष्म के क्रम से सजाकर ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र में समर्थ पद स्थापित किया गया है। (2)अष्टाध्यायी में लाघव के लिए अनेक विधियों का प्रयोग है जैसे–प्रत्याहार, गण–व्यवस्था, अनुबन्धनों का विभिन्न प्रयोजनों से विनियोग, अधिकार–सूत्र, अनुवृत्ति तथा परिभाषा–सूत्र। प्रत्याहार माहेश्वर–सूत्रों तक ही परिमित नहीं (जैसे–अच्–सभी स्वरवर्ण, जश्–तृतीय वर्ण, शल्–ऊष्मवर्ण इत्यादि), प्रत्युत सुप्, टिङ्, सुट् इत्यादि के रूप में प्रत्यय–समुह भी इसकी परिधि में आते हैं। दो वर्णों का लाघव करता है। (3) सन्धि के नियमों को अष्टाध्यायी के षष्ठ और अष्टम अध्यायों में पाणिनि ने विस्तार से समझाया है। इस प्रसंग में षत्व, णत्व, जशत्व, चर्त्व आदि सभी प्रकार के वर्ण–परिवर्तन स्पष्ट किये गये हैं। (4) व्याकरण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया उत्सर्ग (सामान्य नियम) तथा अपवाद (विशेष नियम) के रूप में पाणिनि ने अपनायी है जैसे– दीर्घ होने का सामान्य नियम देकर पुनः अपवाद के कई सूत्र दिये गये हैं कि इन स्थानों में दीर्घ का प्रसंग होने पर भी वह नहीं होगा। इससे व्याकरण में प्रतिपद–पाठ की प्रलम्ब विपत्ति का निराकरण हो जाता है। (5) पद–विज्ञान ही पाणिनि का मुख्य प्रतिपाद्य है। पद दो प्रकार के हैं– सुबन्त तथा तिङन्त। प्रतिपदिकों से सुबन्त और धातुओं से तिङन्त पद निष्पन्न होते हैं। कुछ प्रतिपादिक कृदन्त, तद्धितान्त और समास के रूप में हैं। इन सभी की निष्पत्ति की सूक्ष्म प्रक्रिया अष्टाध्यायी में वर्णित है। पद का रूप चाहे सरल हो या जटिल, पाणिनि उसका प्रत्यक्षर विवरण देते हैं। आधुनिक वर्णनात्मक भाषाशास्त्र (क्मेबतपचपजपअम सपदहनपेजपबे) का प्रवर्तक पाणिनि को माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। अव्याकृत पदों (अव्ययों–निपातों) को पाणिनि ने प्रतिपद–पाठ का ही परिधान प्रधान किया है। (6) प्रत्ययों का विधान या वर्णन करते

हुए पाणिनि का ध्यान अर्थ पर भी रहा है। ऐसा मुख्यतः कृत् और तद्धित के प्रसंग में देखा जा सकता है।प्रत्ययान्त धातु के निष्पादक सन्, क्यच्, यङ्, आदि प्रत्ययों के भी विशिष्ट अर्थ उन्होंने बताये हैं। धातुपाठ पूरा का पूरा अर्थ से विभूषित है। इस प्रकार अर्थविज्ञान के क्षेत्र में भी पाणिनि का योगदान अमूल्य है। (7) पाणिनि ने पारिभाषिक शब्दों का द्विविध प्रयोग किया है। कुछ शब्द तो सामान्य व्यवहार से लेकर विशिष्ट अर्थों में उन्होंने रखे हैं जैसे– गुण, वृद्धि, धातु, प्रतिपदिक आदि।कुछ सर्वथा कृत्रिम लघुकाय संज्ञाएँ रखीं जैसे– टि, घु, भ,घ इत्यादि।इनकी भाषा के लाघव में प्रभूत भूमिका है। (8) पाणिनि भाषा का विश्लेषण एक समृद्ध दार्शनिक आधार पर कह रहे थे। कात्यायन, पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि परवर्ती व्याख्याकारों ने पाणिनि के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझाते हुए स्पष्ट कहा है कि व्याकरण भाषा का केवल बाह्म विश्लेषण नहीं है, इसमें वाक् रूपी ब्रह्म की अभिव्यक्ति भी होती है।अनेक व्याकरण–सम्प्रदाय जहाँ भाषा की ऊपरी रूपरेखा तक ही सीमित हैं, पाणिनीय तन्त्र अर्थपक्ष (अर्थात् दर्शन) का भी विवेचन करता है। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान के प्रवर्तक पाणिनी का अद्भुत योगदान है।

कात्यायन का परिचय

पणिनीय सूत्रों की समीक्षा लघुकाय वार्तिकों में करने वाले कात्यायन का काल 350 ई. पू. माना जाता है। इनका एक नाम वररुचि भी था(यद्यपि इस नाम के अनेक लेखक हुए हैं)।ये दक्षिणात्य थे जैसा कि पतञ्जलि ने इनके एक वार्तिक (यथा लौकिकवैदिकेषु) की समीक्षा में कहा है–प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। पाणिनि के व्याकरण में काल गत व्यवधान से कुछ परिवर्तन की आवश्यकता हो गयी थी जिसे वार्तिकों में (उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्–काव्यमीमांसा)निरूपित किया गया है जैसे– पाणिनी के समय दीधी और वेवी धातुएँ प्रयुक्त थीं, कात्यायन के काल में अप्रचलित हो गयीं। 'इन्धिभवतिभ्यां च' इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है; इसी प्रकार भाषा के विकास का निरीक्षण वार्तिकों में है। संस्कृत की विभाषाओं का निर्देश, लोक व्यवहार को भाषा का नियामक बताना एवं शब्दार्थ का नित्य सम्बद्ध मानना (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे) कात्यायन का विशिष्ट योगदान है। महाभाष्य में समस्त वार्तिकों की समीक्षा है, उसी से वार्तिकों का स्वरूप और परिणाम जाना जाता है।

पतञ्जलि (कृति–महाभाष्य) का परिचय

व्याकरण महाभाष्य के लेखक पतञ्जलि ने अपने लिए 'गोनर्दीय' और 'गोणिकापुत्र' का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये गोनर्द (गोंडा–उत्तरप्रदेश) के निवासी थे तथा इनकी माता का नाम गोणिका था। कुछ विद्वानों ने इन्हें कश्मीरी कहा है। प्रायः माना जाता है कि इन्होंने ही 'योगसूत्र' की रचना की थी। कुछ प्राचीन विद्वान् तो इन्हें आयुर्वेद के ग्रन्थ 'चरकसंहिता' का भी लेखक या संस्कर्ता मानते हैं। इस सन्दर्भ में एक प्राचीन पद्य है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं श्रीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

केवल योगसूत्र और महाभाष्य की एककर्तृकता प्रमाणों से पुष्ट होती है।

पतञ्जलि का समय अधिक विवादास्पद नहीं। प्रायः सभी विद्वान् इन्हें 200 ई. पू. से 150 ई. पू. तक मानने में सहमत हैं।केवल पं. युधिष्ठिर मीमांसक इन्हें 2000 ई. पू. मानने के पक्षधर हैं किन्तु यह अतिवादी मत है। पतञ्जलि के काल निर्णय का सबसे पुष्ट प्रमाण पुष्यमित्र (शुंग नरेश) के द्वारा संचालित अश्वमेध यज्ञ है जिसका उल्लेख

पुराणों में मिलता है और पतञ्जलि भी निर्दिष्ट करते हैं– पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। तत्र भवितव्यम् पुष्यमित्रो याजयति, याजका याजयन्तीति। स्पष्टतः पुष्यमित्र के अनेक पुरोहितों में पतञ्जलि भी थे। उसी काल में महाभाष्य की रचना हुई थी। इतिहासकार मानते हैं कि अन्तिम मौर्य–नरेश को मार कर उनके सेनापति पुष्यमित्र भंग, ने 185 ई. पू. में मगध का राज्य आत्मसात् किया था। मत्स्यपुराण के निर्देश से पता लगता है कि 36 वर्षों तक राज्य करने के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। यह समय 149 या 150 ई. पू. होता है। अतः यही काल महाभाष्य की रचना का है। उस समय कुछ ही दिन पूर्व किसी यवन आक्रान्ता ने साकेत तथा माध्यमिक नगरों पर घेरा डाला था। इसका उल्लेख पतञ्जलि करते हैं– अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्; अरुणद् यवनः साकेतम्।

पतञ्जलि का योगदान एवं महाभाष्य का परिचय

पतञ्जलि ने पाणिनि के महत्त्वपूर्ण सूत्रों तथा उन पर कात्यायन के वार्तिकों की समीक्षा महाभाष्य में की है। समीक्षा के क्रम में उन्होंने इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, लोकप्रथा इत्यादि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला है। जैसे अपने युग की घटनाओं (यवनों का साकेत पर घेरा डालना), अभिनयों(कंसं घातयति, बलिं बन्धयति) तथा साहित्यिक रचनाओं (वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी नामक आख्यायिकाओं) का उल्लेख। इस प्रकार महाभाष्य में पतञ्जलि ने तात्कालिक सांस्कृतिक परिवेश में झाँकने के लिए पर्याप्त सामग्री दी है। भाष्य का लक्षण है

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।

सूत्रों का अनुसरण करने वाले पदों से सूत्रार्थ का विवरण (व्याख्या) देते हुए जब कोई अपने पदों का भी व्याख्यान करता है तब इसे 'भाष्य' कहते हैं। यद्यपि संस्कृत शास्त्रों में कई भाष्य है जैसे– शाबरभाष्य, रामानुजभाष्य, सायणभाष्य आदि, किन्तु महाभाष्य कहलाने का गौरव पाताञ्जलि भाष्य को ही मिला है। यह इसकी महत्ता का सूचक है। उपर्युक्त विषय–वैविध्य इसका निमित्त है। 'वाक्यपदीय' में (2/477) भर्तृहरि ने पतञ्जलि की प्रशंसा में कहा है–

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना

सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।।

यहाँ पतञ्जलि को 'तीर्थदर्शी' (व्याकरण के अतिरिक्त अन्य आगमों का ज्ञाता) कहा गया है; महाभाष्य सभी लौकिक युक्तियों तथा परिभाषाओं के संकेतों (न्याय+बीज) से सम्पन्न है।इस सन्दर्भ में व्याख्याकार पुण्यराज ने कहा है– तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनं यात्सर्वेषां न्यायबीजां बोद्धव्यमिति अत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके (वाक्य. टीका. 2/477)। इसमें अनेक प्रकार के सिद्धान्त हैं, विद्यावाद और दर्शनों की लोकोक्तियाँ हैं (महाभाष्यं हि बहुविधविद्यावादबलमार्षं व्यवस्थितम्–वा० प० टीका 2/478)। जैसे–व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्। यह सिद्धान्त व्याकरण के अतिरिक्त भी कई शास्त्रों में उपादेय है। इसी प्रकार कई न्याय उन्होंने दिये हैं जैसे– एकदेशविकृतमनन्वयत्, पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः इत्यादि।

महाभाष्य के प्रथम आह्निक के द्वारा पतञ्जलि ने भूमिका लेखन की यास्कीय विधि को विकसित किया। यास्क निरुक्त के प्रथमाध्याय के रूप में शास्त्र की पूर्वपीठिका

(भूमिका) की परम्परा का प्रवर्तन कर चुके थे। महाभाष्य के प्रथम आह्निक को 'परस्पर्शा'(= विमर्श) कहते हैं; इसमें शब्द और अर्थ का स्वरूप, व्याकरण के प्रयोजन, शब्दानुशासनं की प्रक्रिया, शब्दार्थ–सम्बन्ध, व्याकरण का स्वरूप तथा अइउण् आदि सूत्रों में वर्णोपदेश का महत्त्व–इस प्रकार आवश्यक विषयों का गम्भीर विवेचन सरल शैली में किया गया है। महाभाष्य में व्याकरण का शब्द–पक्ष और अर्थपक्ष (दर्शन)– दानों विवेचित हैं, भर्तृहरि ने दार्शनिक पक्ष को आधार बनाकर 'वाक्यपदीय' की रचना की। पतञ्जलि के समक्ष अनेक सिद्धान्त थे; किसी एक मत को स्वीकार करके उन्होंने यत्र–तत्र अपनी उदारता भी प्रकट की। उनका कथन है– सर्ववेदपारीषदं हीदं शास्त्रम्, तत्र नैकः पन्था शक्यः आस्थातुम्। इसीलिए उन्होंने पस्पशाह्निक में आकृति और द्रव्य दोनों को पदार्थ मानकर सूत्र–प्रवृत्ति दिखायी है। व्याकरण के स्वरूप के सम्बन्ध के उनके समक्ष तीन पक्ष थे–सूत्रं व्याकरणम्, शब्दो व्याकरणम्, लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। अन्तिम पक्ष उन्हें मान्य हुआ, अन्य दोनों के दोष उन्होंने दिखाये।

पतञ्जलि का एक सर्ववेदपारीषद वाक्य व्याख्यान का स्वरूप स्पष्ट करता है– न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्, किं तर्हि? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारः– इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति (आह्निक 1)। इसका पालन करते हुए उन्होंने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की भी विवेचना की है। सूत्र की विविध कोटि समीक्षा महाभाष्य का वैशिष्ट्य है।

भाषाशास्त्री के समान पतञ्जलि भी लोक में प्रयुक्त भाषा को साहित्यिक भाषा से अधिक महत्त्व देते हैं। भाषा में स्थानीय अर्थभेद और प्रयोगभेद होते हैं। इसकी विवेचना उन्होंने अनेकत्र की है। ध्वनि, पद और अर्थ के रूप में भाषा के समस्त गूढ सिद्धान्तों का अनुशीलन महाभाष्य में सुलभ है। वस्तुतः पतञ्जलि अपने युग से आगे देखने वाले महामनीषी थे, पाणिनीय तन्त्र उनसे प्रतिष्ठित हुआ।

व्याकरणशास्त्र में पाणिनी, कात्यायन तथा पतञ्जलि को 'त्रिमुनि' कहा जाता है। इस पाणिनीय तन्त्र को 'त्रिमुनि व्याकरणम्' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इन मुनियों में भी सिद्धान्त की दृष्टि से क्रमशः प्रामाणिकता बढ़ती गयी है– यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। इस दृष्टि से पतञ्जलि का महत्त्व उपर्युक्त दोनों आचार्यों से बढ़कर है।

जीवित भाषा की दृष्टि से इन तीन वैयाकरणों में ही व्याकरण की समाप्ति हो गयी क्योंकि भाषा के तथ्यों का निरीक्षण आगे नहीं हुआ। पाणिनी तथा पतञ्जलि की व्याख्या एवं सूत्र क्रम भञ्जक प्रक्रिया ग्रन्थों की श्रृंखला ही परवर्ती पाणिनीय सम्प्रदाय की विशिष्टता है।

भर्तृहरि एवं उनके वाक्यपदीय का परिचय

पणिनीय व्याकरण–तन्त्र में वैयाकरण दार्शनिक भर्तृहरि का अनुपम स्थान है। इन्होंने 'वाक्यपदीय' के रूप में व्याकरण दर्शन की एक अद्‌भुत कृति के द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। महाभाष्य में निरूपित दार्शनिक सिद्धान्तों तथा अर्थविज्ञान के नियमों का पद्यात्मक (कारिकाओं के रूप में) विवेचन वाक्यपदीय में है। इसके अतिरिक्त महाभाष्य की व्याख्या भी (दीपिका–नामक) भर्तृहरि ने लिखी थी जिसके प्रथम सात आह्निक प्रकाशित हैं। सम्भवतः उन्होंने केवल तीन पादों की व्याख्या लिखी थी।

भर्तृहरि के काल पर इधर पर्याप्त विचार हुए हैं। पहले लोग इनका काल इत्सिंग के निर्देश के अनुसार 350 ई. के कुछ पूर्व मानते थे। किन्तु देश–विदेश के अनेक विद्वानों ने पुष्ट प्रमाणों के आधार 450 से 500 ई. के बीच इनका काल अब स्वीकार कर लिया है। स्कन्दस्वामी के निरुक्तभाष्य में वाक्यपदीय का उद्धरण, पुण्यराज की वाक्यपदीय–टीका (2/486–तथा 489) में भर्तृहरि के गुरु का नाम वसुरात का

उल्लेख, बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग की त्रैकाल्यपरीक्षा (सम्प्रति तिब्बती के उपलब्ध) में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक की स्वोपज्ञवृत्ति का निर्देश, जैन न्याय के विद्वान् मल्लवादिन् के 'द्वादशार–नय, चक्र' में भर्तृहरि का उल्लेख– ये ऐसे प्रमाण हैं जो इन्हें 450–500 ई. के बीच स्वीकार करने को विवश करते हैं।

वाक्यपदीय तीन काण्डों में विभक्त है – ब्रह्मकाण्ड (146 कारिकाएँ), वाक्यकाण्ड (486 कारिकाएँ) तथा प्रकीर्णकाण्ड या पदकाण्ड (14 समुछेशों में विभक्त, 1323 कारिकाएँ)। प्रथम काण्ड पर हरिवृषभ, द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज एवं तृतीय काण्ड पर हेलाराज की व्याख्याएँ मिलती हैं। ब्रह्मकाण्ड पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी थी। वाराणसी के विद्वान् पं. रघुनाथ शर्मा ने सम्पूर्ण वाक्यपदीय की अभिनव 'अम्बाकर्त्री' व्याख्या लिखी है। **ब्रह्मकाण्ड** शब्दब्रह्म तथा स्फोट का विवेचन करता है, इसमें वाणी के तीन स्तरों (पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी) का निर्देश है। शब्दों से अर्थबोध का कारण साधुशब्दों का स्मरण है। व्याकरण साधुत्व के शब्द का नियामक है। वाक्यकाण्ड में वाक्य–स्वरूप विस्तृत विवेचना करते हुए इसके विविध लक्षणों का विमर्श किया गया है। वाक्य स्वरूप के आठ पक्ष हैं– आख्यात शब्द, पदसंघात, संघातवर्तिनी जाति, अनवयव एकशब्द, क्रम, बुद्धि से कल्पना करके पदों का अनुसंहार, आद्य पद तथा सर्वसाकांक्ष पद वाक्य हैं (वा. प. 2/1–2)। तृतीयकाण्ड विविध विषयों का विवेचन परक होने से 'प्रकीर्णकाण्ड' कहलाता है। इसे पदकाण्ड भी कहते हैं क्योंकि सभी विषय 'पद' के चारों ओर भ्रमण करते हैं। यह विषय 'समुछेश' –रूप है जैसे– जातिसमुछेश, द्रव्यसमुछेश, सम्बन्धसमु., भूयोद्रव्यसमु., गुणसमु. दिक्समु. साधनसमु. (कारक), क्रिया., काल., पुरुष., संख्या. (वचन), उपग्रह. (आत्मनेपद–परस्मैपद), लिङ्ग तथा वृत्ति समुछेश सबसे बङा है (627 कारिकाएँ)। वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड को शब्द दर्शन की पूर्वपीठिका मानकर शेष दो काण्डों में क्रमशः वाक्य एवं पद का दार्शनिक विचार होने से इस ग्रन्थ का शीर्षक अन्वर्थ है। भर्तृहरि का व्याकरण दर्शन में अमूल्य योगदान है।

अष्टाध्यायी और महाभाष्य की व्याख्याएं–

पणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियों का टीका ग्रन्थों के रचे जाने की सूचना प्राप्त होती है किन्तु उन सबमें उपलब्ध प्रथम वृत्ति 'काशिका' ही है जिसे जयादित्य (1–5 अध्यायों पर)तथा वामन (6–8 अध्यायों पर) ने लिखा था। काशिकावृत्ति (1/3/23) में भारविकृत किरातार्जुनीय के एक पद्य (3/14) का खण्ड उद्धृत है– संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः। इस आधार पर भारवी (550–600 ई.) के समय या उनके बाद इस वृत्ति का काल होगा। काशिक पर प्रथम टीका जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखी थी जिनका काल 700 ई. माना जाता है, अतः काशिका का रचनाकाल 600–650 ई. के बीच सामान्यतः माना जाता है। इस वृत्ति में पाणिनीय सूत्रों की विस्तृत व्याख्या अनुवृत्ति निवृत्ति को दिखाते हुए की गई है, गण पाठ को भी पूर्णतः व्याख्या में समाविष्ट किया गया है। वार्तिकों को भी यथास्थान रखकर काशिका में समझाया गया है। इसके मङ्गलाचरण में ही इसकी महत्ता बतायी गयी है–

इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगुढ़ासूत्रार्था।

व्युतपन्नरूपसिद्धिवृत्तिरियं काशिका नामा।।

वस्तुतः पाणिनीय सूत्रों को समझाने वाली ऐसी कोई वृत्ति नहीं है।

काश्किा की दो महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ मिलती हैं– बौद्ध जिनेन्द्रबुद्धि रचित–काशिकाविवरणपञ्जिका (अन्य नाम–न्यास) तथा हरदत्त–रचित 'पदमञ्जरि'

न्यास–टीका का समय 700 ई. तथा पदमञ्जरि का समय एकादश शतक या इसके कुछ पूर्व हो सकता है।

अष्टाध्यायी की एक वृत्ति 'भागवृत्ति' किसी विमलमति नामक विद्वान् की कृति थी जो अब उद्धरण–मात्र में उपलब्ध है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने 'भागवृत्ति संकलन' के नाम से विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त इसकी पक्तियों का संग्रह प्रकाशित किया है (1964 ई., अजमेर)। इसमें वैदिक तथा लौकिक सूत्रों को पृथक् किया गया है। इसका काल नवम शतक ई. है। बंगाल के निवासी बौद्ध विद्वान् पुरुषोत्तम देव ने अष्टाध्यायी के केवल लौकिक सूत्रों की वृत्ति 'भाषावृत्ति' के नाम से लिखी थी। इन्होंने महाभाष्य की भी व्याख्या लिखी थी (लघुवृत्ति)। अमरकोष के टीकाकरण सर्वानन्द (1160 ई.) ने इन ग्रन्थों का बहुधा निर्देश किया है। अतः पुरुषोत्तमदेव का समय 1120 ई. के आसपास सिद्ध होता है। प्रसिद्ध विद्वान् कैयट का भी इन्हानें उल्लेख किया है। पुरुषोत्तम के कुछ परवर्ती बौद्ध विद्वान् शरणदेव ने (लक्ष्मणसेन के सभापण्डित) ने कुछ अव्याख्येय तथाकथित अपाणिनीय शब्द प्रयोगों की सिद्धि के लिए तदनुकूल 500 सूत्रों की व्याख्या 'दुर्घतवृत्ति' में की। लेखक ने इसकी रचना 1172 में की थी। जयदेव ने इसके विषय में यथार्थ टिप्पणी की थी– शरणः शलाघ्यो दुरूद्रुहतेः (अर्थात् शरणदेव व्याकरण के दुरूह प्रयोगों को द्रवित करने का सुगम बनाने में प्रशंसनीय हैं)। गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज में इसका प्रकाशन 1909 ई. में किया था। भट्टोजी विक्षित ने भी अष्टाध्यायी की व्याख्या 'शब्दकौस्तुभ' के रूप में की। यह चतुर्थ अध्याय तक है किन्तु तृतीय अध्याय का उत्तरार्ध (पाद 3–4) नहीं मिले हैं।

महाभाष्य की व्याख्याओं में प्रथम तो भर्तृहरि कृत 'दीपिका' है किन्तु यह कुछ ही आह्निकों तक है। महाभाष्य के दो बार लुप्त हो जाने का उल्लेख मिलता है। पहली बार उसका उद्धार चन्द्राचार्य ने किया था (वाक्यपदीय 2/481 तथा राजतरङ्गिणी 1/176)। दूसरी बार कश्मीर के राजा जयापीड ने (अष्टम शताब्दी ई.) इसका उद्धार क्षीण उपाध्याय से कराया था (राजत. 4/488–9)। कश्मीर के ही निवास कैयट ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर 'प्रदीप' व्याख्या लिखकर सदा के लिए लोप और उद्धार की श्रृंखला समाप्त कर दी। पदमञ्जरी के लेखक हरदत्त के ये पूर्ववर्ती थे क्योंकि हरदत्त ने कैयट के मतों का अनेकत्र खण्डन किया है। अतः कैयट का समय 1000 ई. सं 1050 ई. तक सर्वमान्य है। प्रदीप–टीका के अभाव में महाभाष्य की ग्रन्थियाँ दुर्बोध ही रह जातीं। इसमें कश्मीरी अनुशीलन की परम्परा पुञ्जीभूत हो गयी है। अन्नम्भट्ट (17वी. शताब्दी ई.) ने प्रदीप की व्याख्या 'उद्घोतन' के नाम से लिखी किन्तु नागेश भट्ट ने (1700 ई.) इस पर जो 'उद्घोत' व्याख्या की रचना की वह बहुत प्रसिद्ध हुई। नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने इस पर भी टीका लिखी जो नावाह्निक तक मिलती है।

प्रक्रिया ग्रन्थ का परिचय

पाणिनीय व्याकरण–परम्परा में त्रिमुनि–काल (600 ई. पू. से 100 ई. पू.) तथा त्रिमुनि व्याख्याकाल (100 ई. पू. 1000 ई.) के बाद प्रक्रियाकाल (1000 ई.) के बाद का आगमन हुआ। अन्य शास्त्रों के समान व्याकरण में भी प्रकरण ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिससे अल्पकाल में कुछ कार्यसाधक (ूवतापदह) ज्ञान प्राप्त कर अन्य शास्त्रों के अध्ययनार्थ प्रस्तुत हो सकें। पाणिनीय तन्त्र से बाहर व्याकरण–प्रस्थानों में कालाप–तन्त्र पहले ही प्रकरण के रूप में ही विकासित हो चुका था (1000 ई.) इन प्रस्थानों में व्याकरण को साध्य न रखकर साधन बनाने पर बल था। संस्कृत भाषा जन–सामान्य में प्रचलित नहीं थी, इसीलिए अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रम तोङकर संज्ञा, सन्धि, समास, कारक, सुबन्त, तिङन्त, तद्धित, कृदन्त, स्त्रीप्रत्यय, आदि प्रकरणों

में सूत्रों को सजाकर शब्दरूपों की सिद्धि पर ध्यान देना आवश्यक लगा। इससे नव्य पाणिनीय या प्रक्रिया–परम्परा का प्रवर्तन हुआ। इस परम्परा में कई ग्रन्थ विकसित हुए।

इस परम्परा का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ 'रूपावतार' है जिसे सिंहली बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने प्रायः 1100 ई. में लिखा था। इसमें प्रकरणों के नाम 'अवतार' से युक्त हैं– संज्ञावतार, संहितावतार, विभक्त्यवतार इत्यादि।

सिद्धान्तकौमुदी के समान प्रत्येक उत्तरभाग धातुओं और तद्विहित प्रत्ययों का है। स्वर वैदिक अंश नहीं है। उणादि पर भी पृथक् परिच्छेद नहीं है। सूत्रों की संक्षिप्त वृत्ति उदाहरण–सहित दी गयी है। 14 वीं शताब्दी के विद्वान् संन्यासी विमलसरस्वती (सूरि) ने इसी ढंग की पुस्तक 'रूपमाला' लिखी। 'रूपावतार' में जहाँ 2664 सूत्रों की व्याख्या थी, वहाँ इसमें केवल 2046 सूत्र ही रखे गये। इस प्रकार लाघव का प्रयास किया गया। इसमें प्रकरणों के नाम 'माला' से युक्त हैं– संज्ञामाला, सन्धिमाला इत्यादि। इन दोनों ग्रन्थों का अधिक प्रचार नहीं हो सका।

आंध्रप्रदेश के निवासी ऋग्वेदी ब्राह्मण रामचन्द्र (14 वीं शताब्दी ई.) ने 'प्रक्रियाकौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें 2470 सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण हैं। पूर्वार्ध के उत्तरार्ध के रूप में यह भी विभक्त है। क्रम सिद्धान्तकौमुदी के समान है। रामचन्द्र ने वैष्णव–परक उदाहरण दिये हैं। ग्रन्थ के संक्षिप्त होने का कारण ग्रन्थकार ने अन्ति में दिया है–

आनन्त्यात्सर्वशब्दा हि न शक्यन्तेऽनुशासितुम्।

बालाव्युत्तयेऽस्माभिः संक्षिप्योक्ता यथामतित्त।।

प्रक्रियाकौमुदी के लेखक के पोत्र विट्ठल ने इस पर 'प्रसाद' नामक टीका लिखी। पुनः भट्टोजी दिक्षित के गुरु शेषकृष्ण ने इस पर 'प्रकाश' नामक व्याख्याग्रन्थ लिखा। बीरबल के पुत्र कल्याण को संस्कृत व्याकरण सिखाने के लिए यह व्याख्या लिखी गयी थी। लेखक ने बीरबल का वृंशवृक्ष भी इसके आरम्भ में दिया है।

पाणिनीय व्याकरण तन्त्र में भट्टोजी दीक्षित का आविर्भाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने व्याकरण के अतिरिक्त भी कई शास्त्रों में ग्रन्थलेखन द्वारा उनकी श्रीवृद्धि की। आन्ध्रपदेश के तैलंक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न भट्टोजीदीक्षित का वंश अनेक वैयाकरणों से सम्बद्ध था। लक्ष्मीधर भट्ट (पिता) रंगोजीभट्ट (भ्राता), भानुजीदीक्षित (पुत्र), कौण्डभट्ट (भतीजा) तथा हरिदीक्षित (पौत्र) महान् वैयाकरण थे। भट्टोजी ने शेषकृष्ण से व्याकरण और धर्मशास्त्र, नृसिंहाश्रम से वेदान्त तथा अप्पयदीक्षित से मीमांसा का अध्ययन किया था। काशी में रहकर ही इन्होंने अनेक शास्त्रों में मौलिक तथा टीकाग्रन्थ लिखे, किन्तु इन्हें विशेष ख्याति व्याकरण में (मुख्यतः 'सिद्धान्तकौमुदी' के कारण) ही मिली। ये खण्डन–रसिक विद्वान् थे; इसलिए प्रखर शब्दों में इन्होंने काशिका, न्यास, पदमञ्जरि अपने गुरु की 'प्रकाश'– टीका तक का खण्डन किया है। वे कैयट से लेकर सभी वैयाकरणों के ग्रन्थों को शिथिल कहते हैं– तस्मात्कैयटप्रभृत्यर्वाचीनप्रयन्तं सर्वेषां ग्रन्था इह शिथिला ऐवित स्थितम् (प्रौढमनोरमा, उत्तरभाग पृ. 742)।

भट्टोजी दीक्षित का काल प्रायः निश्चित है। इनके गुरु नृसिंहाश्रम ने 1547 ई. 'वेदान्ततत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा था। जिसकी व्याख्या उन्होंने ही दूसरे वर्ष 'दीपन' नाम से लिखी। भट्टो जी ने 'वाक्यमाला' नामक टीका इस दीपन के ऊपर लिखी। भट्टोजी के एक शिष्य नीलखण्ड शुक्ल ने 'शब्दशोभा' नामक व्याकरण– ग्रन्थ 1637 ई. में लिखा था। म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने उल्लेख किया है कि 'शब्दकौस्तुभ'

(भट्टो जी की कृति) का एक हस्तलेख 1633 ई. का मिला है। इस आधार पर पं. बलदेव उपाध्याय ने भट्टोजिदीक्षित का काल 1560 ई. तथा 1610 ई. के बीच माना है।

भट्टोजिदीक्षित ने धर्मशास्त्र (आशौच प्रकरण, तिथिनिर्णय और त्रिस्थलीसेतु), वेदान्त (तत्त्वकौस्तुभ, वाक्यमाला, अद्वैतकौस्तुभ) तथा कुछ अन्य शास्त्रों में भी (तन्त्राधिकार, वेदभाष्यसार, तत्त्वसिद्धान्तदीपिका तथा तैत्तिरीयभाष्य) ग्रन्थों की रचना की। व्याकरण में इनके चार ग्रन्थ हैं– वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, प्रौढमनोरमा, शब्दकौस्तुभ तथा वैयाकरण सिद्धान्तकारिका (भूषणकारिका)।

वैयाकरणसिद्धान्कौमुदी इनका प्रसिद्धतम ग्रन्थ है। इसमें पाणिनि के सभी सूत्र प्रक्रियाक्रम से विवेचित हैं, सबकी संक्षिपतवृत्ति देते हुए परिनिष्ठित रूपों की सिद्धि में उनका विनियोग दिखाया गया है। इसके पूर्वार्ध में संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, अव्यय, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास तद्धित और द्विरुक्तप्रकरण हैं। उत्तरार्ध में गणों के आधार पर तिङन्त–प्रकरण, प्रत्ययान्त धातुरूप (सनादि, यङ्, नामधातु आदि), लकारार्थ, कृत्य, पूर्वकृदन्त, उणादि, उत्तरकृदन्त, वैदिकप्रकरण तथा स्वरप्रकरण है। इसके अन्त में लिङ्गानुशासन का भी विवेचन है। प्रक्रिया–ग्रन्थों में सिद्धान्तकौमुदी उत्कृष्ट तथा लोकप्रिय है। इसके द्वारा अष्टाध्यायी की शास्त्रपरम्परा उखाङ दी गयी। इसकी व्याख्याओं में स्वयं भट्टोजीरचित प्रौढमनोरमा, नागेश–कृत शब्देन्दुशेखर (लघु तथा बृहत् संस्करण), वासुदेव दीक्षित कृत बालमनोरमा तथा ज्ञानेन्द्र सरस्वती कृत तत्त्वबोधिनी प्रमुख हैं।

प्रौढ मनोरमा उपर्युक्त सिद्धान्तकौमुदी की लेखक–कृत व्याख्या है किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप लेती है। इसमें लेखक ने 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' का स्पष्ट समर्थन किया है। दुर्घट प्रयोगों को भी समझाने का प्रयास लेखक ने किया है। शेषकृष्ण की प्रकाश–व्याख्या के खण्डनों को इसमें देखकर उनके शिष्योपशिष्य पण्डितराज जगतन्नाथ ने 'प्रोढमनोरमाखण्डन' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें इसकी अलोचना है। शब्दकौस्तुभ भट्टोजिदीक्षित का शास्त्रानुकूल ग्रन्थ है जो अष्टाध्यायी के सूत्रों की उसी क्रम से व्याख्या है, उस पर विकसित सभी टीकाओं से यह अनुप्राणित है। दुर्भाग्य है कि ग्रन्थ केवल साढ़े तीन अध्यायों के रूप में (तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद तक एवं पूरा चतुर्थ अध्याय) मिला है। शेष भाग नष्ट हो गये या लिखे ही नहीं गये। दीक्षित को इस ग्रन्थ से विशेष अनुराग था जैसा कि सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में उनका कथन है–

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।

विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे।।

भट्टो जी की एक लघुकृति 'वैयाकरण सिद्धान्तकारिका' है जिसमें केवल 74 अनुष्टुप्पद्य हैं; धात्वर्ध, लकारार्थ, सुबर्थ, नामार्थ, समासशक्ति आदि विषयों का विवेचन करते हुए अन्त में स्फोट का प्रकरण है। इस पर रंगोजी के पुत्र (अर्थात् भट्टोजी के भतीजे) कौण्डभट्ट ने 'वैयाकरणभूषण' नामक व्याख्या लिखी जो स्वतन्त्र रूप में व्याकरण–दर्शन का महार्ह ग्रन्थ है। इसका संक्षिप्त रूप 'वैयाकरणभूषणसार' है जिस पर अनेक टीकाएँ प्रचलित हैं– दर्पण (ले. हरिवल्लभ), भैरवी (भैरवमिश्र), काशिका (हरिराम काले) इत्यादि। इसकी हिन्दी–व्याख्याएँ भी प्रकाशित हैं।

दीक्षित–परिवार के ही हरिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा की व्याख्या 'शब्दरत्न के नाम से लिखी जिसके बृहत् और लघु दो संस्करण हुए। इनके शिष्य नागेशभट्ट थे (1660–1725 ई. के बीच) जिन्होंने अनेक बडे–बडे ग्रन्थ लिखे। सिद्धान्तकौमुदी की

व्याख्या शब्देन्दुशेखर (बृहत् और लघु), परिभाषेन्दुशेखर (परिभाषा रूप वाक्यों की व्याख्या), महाभाष्य के प्रदीप की टीका (उद्घोत), स्फोटवाद, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा (मूल लघु तथा परमलघु– 3 संस्करण) नागेश के मुख्य ग्रन्थ हैं। ये सभी प्रकाशित हैं। 'मञ्जूषा' व्याकरण–दर्शन का शिखर–ग्रन्थ है। इसके लघुसंस्करण पर कला (वैद्यनाथ पायगुण्ड–कृत) और कुंजिका (कृष्णमित्र–कृत) दो टीकाएँ और अनुवाद भी प्रकाशित हैं (काशी, 1925 ई.)। 'परमलघुमञ्जूषा' लोकप्रिय ग्रन्थ है, इसकी कई टीकाएँ और अनुवाद भी प्रकाशित हैं।

भट्टो जी दीक्षित के प्रख्यात शिष्य वरदराज ने सिद्धान्कौमुदी के तीन संक्षिप्त संस्करण निर्मित किये जो प्रक्रिया–पद्धति के प्रवेशद्वार माने जाते हैं– सारसिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी तथा मध्यसिद्धान्तकौमुदी। ये ग्रन्थ क्रमशः बड़े होते गये हैं। इनमें लघु कौमुदी पाणिनीय व्याकरण की आरम्भिक शिक्षा के लिए बहुत प्रचलित है। वरदराज की एक रचना 'गीर्वाणपदमञ्जरि' है जिसमें काशी की सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत करने वाले उदाहरण दिये गये हैं। इसका प्रकाशन विश्वविद्यालय से हुआ है। लघुकौमुदी का एक हस्तलेख 1624 ई. का है (अमेरीका में सुरक्षित)। अतः वरदराज का समय 1600–1630 ई. तक माना जा सकता है।

केरल के नारायण भट्ट भी भट्टो जी दीक्षित के समकालिक थे। इनका 'प्रक्रियासर्वस्य' विशाल ग्रन्थ है जिसमें बीस खण्डों में सम्पूर्ण शब्द–प्रक्रिया को बताया गया है। भोज के व्याकरणग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर नारायणभट्ट को पूर्ण आस्था है। यद्यपि महाभाष्य और काशिका इसके मुख्य अधार हैं तथापि लेखक ने अन्य व्याकरण–सम्प्रदायों के मतों का भी ग्रहण किया है। यह ग्रन्थ 1954 ई. में अनन्तशयनग्रन्थावलि में केवल सुबन्तखण्ड के रूप में प्रकाशित हुआ, इसके तद्धित तथा उणादिखण्ड मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हैं। शेष भाग अप्रकाशित हैं। इस प्रकार प्रक्रिया–ग्रन्थों की लम्बी परम्परा है।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थों का परिचय

पाणिनीय व्याकरण–तन्त्र में अन्य अनेक विषयों पर भी ग्रन्थ मिलते हैं जो उक्त साहित्य के पूरक हैं। पाणिनीय धातुपाठ पर अनेक आचार्यों ने टीकाएँ या समीक्षाएँ लिखी जिनमें क्षीरस्वामी (11वी. शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में, कश्मीर निवासी) की 'क्षीरतरङ्गिणी', मैत्रेयरक्षित (1125 ई. के निकट, बौद्ध विद्वान्) का 'धातुप्रदीप', माधवाचार्य (14 वी. शताब्दी, सायण की रचना) कृत 'माधवीयधातुवृत्ति' प्रमुख हैं। इसी प्रकार गणपाठ के शब्दों की व्याख्या करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है– गणरत्नमहोदधि। इसके रचयिता का नाम वर्धमान है इस ग्रन्थ का रचनाकाल 1140 ई. है। इसमें पाणिनीय गणपाठ के अतिरिक्त शब्दों की भी व्याख्या है। वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में थे अतः उनके आश्रित हेमचन्द्र से वे पूर्ण परिचित थे। अपने पद्यात्मक ग्रन्थ की व्याख्या भी लेखक ने ही की है। लिङ्गानुशासन पर पाणिनी के सूत्रों के अतिरिक्त वररुचि, हर्षवर्धन, वामन, दुर्गसिंह (कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध) तथा हेमचन्द्र के 'लिङ्गानुशासन' नामक ग्रन्थ हैं।'परिभाषा' व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण विषय है– नियम न होने की स्थित में नियम निर्धारित करना परिभाषा का कार्य है (अनियमे नियमकारिणी परिभाषा)। यह एक प्रकार से 'भाषा की परिभाषा' है। कुछ परिभाषाएँ पाणिनी के सूत्रों के रूप में ही हैं। कुछ लोकन्याय सिद्ध हैं, कुछ सूत्रों से ज्ञापित होती हैं तो कुछ परिभाषाएँ वार्तिकों और भाष्य में हैं। यद्यपि पूना से प्रकाशित 'परिभाषासंग्रह' में अनेक ग्रन्थों का संकलन है किन्तु तीन ग्रन्थ मुख्य हैं– पुरुषोत्तम (1150–1200 ई.) कृत 'लघुवृत्ति', सीरदेव (1300 ई.) कृत 'परिभाषावृत्ति' तथा नागेशभट्ट (1660–1525 ई.) कृत 'परिभाषेन्दुशेखर' (133 परिभाषाओं का विवेचन।

अन्तिम ग्रन्थ वैयाकरणों के बीच बहुत प्रचलित है; इसकी टीकाएँ गदा (वैद्यनाथ), भैरवी (भेरवमि), त्रिपधगा भूति, (रामकृष्णशास्त्री), विजया (जयदेवमिश्र) आदि हैं। इसकी हिन्दी व्याख्या हर्षनाथ मिश्र ने लिखी है।

इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण तन्त्र अपनी व्यापकता और सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य के कारण बहुत महत्त्व रखता है।

अन्य व्याकरण प्रस्थान का परिचय

इस समय पाणिनी से भिन्न दस व्याकरण–प्रस्थान न्यूनाधिक रूप से उपलब्ध तथा प्रचलित हैं– कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, जैन शाकटायन भोज, हैम, जौमर, सारस्वत, मुग्धबोध तथा सौपद्म। कातन्त्र या कालाप व्याकरण प्रक्रिया क्रम से 1412 सूत्रों के मूल ग्रन्थ पर आश्रित है। यह चार अध्यायों में विभक्त है, प्रथम तीन अध्याय शर्ववर्मा (प्रथम श. ई.) तथा अन्तिम अध्याय किसी कात्यायन के द्वारा रचितहै। सूत्र पाणिनीय सूत्रों के आधार पर रचे गये हैं। बिहार, बंगाल तथा गुजरात में इसका प्रचार रहा है। इस पर दुर्गसिंह (600 ई.) की वृत्ति है जिसपर उग्रभूति, त्रिलोचनदास, जगद्धरभट्ट (कश्मीरी 1300 ई.) आदि ने टीकाएँ लिखीं। इस प्रस्थान में भी अनेक प्रकरण–ग्रन्थ लिखे गये। जगदीर्श तर्कालकार ने 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' इसी प्रस्थान के अन्तर्गत लिखी है। चान्द्रव्याकरण चन्द्रगोमी ने प्रायः 400 ई. में लिखा था, ये बौद्ध विद्वान् थे। इसका प्रचार बौद्ध क्षेत्रों में (कश्मीर, नेपाल, तिब्बत, श्रीलंका) ही है। इसमें 'त्रिमुनि व्याकरण' का पूरा उपयोग है किन्तु संज्ञा शब्दों का प्रयोग नहीं है। सम्प्रति इसमें 6 अध्याय और 3100 सूत्र मिलते हैं। इस प्रस्थान का 'काशिका' में अनेकत्र खण्डन है। इसका एक संक्षिप्त रूप 1200 ई. में भिक्षु काश्यप ने 'बालावबोधन' लिखा जो श्रीलंका में संस्कृत–शिक्षण के लिए प्रयुक्त होता है। जैनेन्द्रव्याकरण के प्रवर्तक पूज्यपाद देवनन्दि (450 ई.) हैं जिनका 'जैनेन्द्रशब्दानुशासन' अष्टाध्यायी के आदर्श पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसके औदिच्य संस्करण में ३००० और दाक्षिणात्य संस्करण में ३७०० सुत्र हैं (दक्षिणात्य सं. में कूछ वार्तिक भी सूत्र–रूप में है)। दोनों संस्करणों पर अनेक टीकाएँ मिलती हैं

जैन शाकटायन प्रस्थान का आचार्य पाल्यकीर्ति (814–67 ई.) ने प्रवर्तन किय था। शाकटायन शब्दानुशासन में 4–4 पादों वाले 4 अध्याय है जिन्हें 'सिद्धि' नाम से अधिकरणों में विभक्त किया गया है प्रभाचन्द्र (1000ई.) ने जैनेन्द्र और शाकटायन दोनों पर वृत्तियाँ लिखी हैं। यक्षवर्मा ने शाकटायनव्याकरण की 'चिन्तामणि' टीका लिखी जिसमे कहा गया है कि इसके अभ्यास से बच्चे और स्त्रियाँ भी एक वर्ष में ही संस्कृत समझने लगेंगी। इस प्रस्थान में अनेक प्रकरण–ग्रन्थ भी हैं। महाराज भोज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक व्याकरण ग्रन्थ में आठ अध्यायों में 6411 सूत्र दिये हैं। सात अध्याय संस्कृत व्याकरण के और अष्टम अध्याय वैदिक व्याकरण का है। व्याकरण के सहायक गणपाठ, परिभाषा, उणादि, लिंगानुशासन– ये सब इसी में समाविष्ट हैं, पृथक् नहीं हैं। आकार–वैपुल्य से यह लोकप्रिय नहीं हो सका यद्यपि तीन टीकाएँ भी लिखी गयीं। भोज का राज्यकाल 1028 ई. से 1063 ई. तक था।प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेचन्द्रसूरि ने (1088–1072 ई.) 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' ग्रन्थ के द्वारा हैम–प्रस्थान का प्रवर्तन किया। गुर्जरनरेश सिद्धान्त के आदेश से यह ग्रन्थ लिखा गया। 4–4 पादों के आठ अध्याय इसमें भी भोजव्याकरण के समान हैं किन्तु आठवें अध्याय में अनेक प्रकार की प्राकृत भाषाओं का व्याकरण है। सात अध्यायों में 3566 सूत्र हैं, प्राकृत भाग में 1111 सूत्र हैं। इस पर भी अनेक टीकाएँ हैं।

13 वी. शताब्दी ई. में क्रमदीश्वर ने 'संक्षिप्तसार' नामक ग्रन्थ के द्वारा एक नये प्रस्थान को जन्म दिया जिसकी स्वोपज्ञ वृत्ति का परिष्कार जुमरनन्दि (14 वी. शताब्दी) के द्वारा

होने से इसे जौमर–प्रस्थान कहते हैं। प्रक्रिया क्रम से लिखित इस व्याकरण का प्रचार केवल बंगाल में है। सारस्वत–प्रस्थान वस्तुतः नरेन्द्र नामक विद्वान् के द्वारा रचित 700 सूत्रों से प्रवृत्त हुआ (जो आज अप्राप्य है) किन्तु इसके आधार पर 13 वी. शताब्दी ई. में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने 'सारस्वतप्रक्रिया' लिखी जिसपर अनेक टीकाएँ हैं। भट्टोजीदीक्षित के शिष्य रघुनाथ ने इस पर 'लघुभाष्य' लिखा। इस प्रस्थान का एक ग्रन्थ 'सिद्धान्तचन्द्रिका' भी है। कई प्रदेशों में प्रक्रिया और चन्द्रिका का पठन–पाठन होता रहा है। 'मुग्धबोध' नामक अत्यन्त संक्षिप्त व्याकरण–ग्रन्थ के द्वारा बोपदेव (1300 ई.) ने एक नूतन प्रस्थान का प्रवर्तन किया। नवद्वीप (पश्चिम बंगाल) तक ही इसका अध्ययन सीमित है। 15 वी. शताब्दी ई. में पद्मनाभदत्त ने सुपद्मप्रस्थान संस्कृत व्याकरण को दिया। इसका प्रचार मिथिला में था, अब समाप्त हो गया है।

19.3 भारतीय दर्षन का इतिहास

दर्शन शब्द का अर्थ

दर्शन शब्द 'दृश्' (दर्शनार्थक) धातु से निष्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है– 'दृश्यतेऽनेन, इति दर्शनम् (दृश्+ल्युट्), जिसके द्वारा देखा जाय, या तत्त्वबोध सम्भव हो, तथा 'दृश्यते इति दर्शनम्' (जिसका तत्त्वबोध या साक्षात्कार हो, जैसे आत्मदर्शन या तत्त्वबोध)। भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में प्रथम व्युत्पत्ति ही सार्थक है।एतदनुसार भारतीय दर्शन अपनी वेदान्तादि अनेक शाखाओं के माध्यम से तत्त्वबोध का साधन है। सामान्यतः भारतीय दर्शन के दो भेद हैं:– आस्तिक एवं नास्तिक। आस्तिक दार्शनिक वेद एवं तत्प्रतिपाद्य ईश्वर में आस्था एवं विश्वास रखते हैं, तथा नास्तिक वे हैं, जो न वेद विश्वासी हैं और न ईश्वर विश्वासी (नास्तिको वेदनिन्दकः)। आस्तिक दर्शन छः हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त, तथा नास्तिक दर्शन हैं– बौद्ध, जैन एवं चार्वाक।

संहिताओं में दर्शन

संहिताएँ भारतीय दर्शन का प्रमुख एवं प्राचीनतम आधार हैं। इनमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियों (ऋषयो मन्त्रदष्टारः) के नितान्त रहस्यपूर्ण अनुभव वर्त्तमान हैं। यहाँ, यह स्पष्ट करना अपेक्षित है, कि संहिताओं के अन्तर्गत औपचारिक रूप से किसी पूर्ण, सिद्धान्त विशेष की खोज करना बहुत समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है, कि संहितावर्त्ती दार्शनिक ऋषियों के विचार हैं, अतः उनमें वर्तमानकाल जैसे पूर्ण औपचारिक सिद्धान्त नहीं देखे जा सकते। हाँ, उनमें अद्वैतवाद जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों के पुष्ट बीज अवश्य उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में इम्पीरियल गजेटियर में कहा गया है, कि संहिताकाल में आत्मवाद का चिन्तन आरम्भ हो गया था। कीट ने भी यही मत स्पष्ट किया है, कि भारतवर्ष की प्राचीनतम कविता के अन्तर्गत भारतीय दर्शन के मौलिक स्वरूप के चिह्न पहले से वर्तमान हैं।

इसी प्रकार जर्मन विद्वान् मैक्समूलर एवं ड्यूसन भी वैदिक संहिताओं में भारतीय दर्शन के बीज स्वीकार करते हैं।

यहाँ, यह कहना और अपेक्षित है, कि संहिताकाल से पूर्व रहस्यमयी सत्ता एवं अग्नि के प्रति की गई प्रार्थनाओं में भी दार्शनिक दृष्टि का सूक्ष्म आधार उपलब्ध होता है। जहाँ तक, संहिताओं में दार्शनिक विचारधारा का प्रश्न है, सर्वप्रथम ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत दार्शनिक सूत्रों का गवेषण समीचीन होगा ! ऋग्वेदसंहिता के कुछ विद्वानों ने बहुदेववाद के दर्शन किए हैं। एकेश्वरवादी, ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण एवं अग्नि आदि के रूप में एक ही ईश्वर तत्त्व का वर्णन स्वीकार करते हैं, जब कि बहुदेववादी विचारक ऋग्वेदवर्त्ती देववर्णन के अन्तर्गत पृथक्–पृथक् देवताओं की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। वैदिक–देववाद के सम्बन्ध में मैक्समूलर का विचार भी विचारणीय है। मैक्समूलर ने वैदिक देववाद को हेनोथीज्म का नाम देते हुए लिखा है–

इस प्रकार जब ऋग्वैदिक ऋषि किसी देवता का वर्णन सर्वोच्च देव के रूप में करता है, तो यह देववर्णन पद्धति हेनोथीज्म के अन्तर्गत आती है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष ग्रहण करना अनुचित होगा, कि एक देवता का सर्वोच्च देव के रूप में वर्णन करने से अन्य देवों का महत्त्व कम हो जाता है। जैसा कि, पाश्चात्त्य विद्वान् केगी ने भी स्वीकार किया है। हमारे विचार से, प्रकरण एवं अभिप्राय के अनुसार जिस समय जिस देवता की स्तुति की गई है, उस समय उसी का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार यदि एक स्थल पर वरुण को अखिल भुवन का अधिपति कहा गया है, तो दूसरे

प्रकरण में अग्नि को त्रिलोक का शिरोभूत कहा है। इस प्रकार के वर्णनों को जर्मन विद्वान् मेक्डानल ने अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है। जो भी हो, उपर्युक्त विचारों के अन्तर्गत एकदेववाद एवं बहुदेववाद के दर्शन सरलतया किए जा सकते हैं। इन्हीं विचारबीजों में अद्वैतवाद के आधार स्वरूप को देखना असमीचीन न होगा।

चार्वाक दर्शन

भौतिकवादी चार्वाक दर्शन, औपनिषद दर्शन एवं गीतादर्शन की आध्यात्मिक विचारधारा की तीव्र–प्रतिक्रिया का फल है। औपनिषद आत्मवाद की घोर निन्दा, पुनर्जन्म एवं मोक्षादि आस्तिक–दार्शनिक सिद्धान्तों का तर्कों, भौतिकवादी तर्कों के आधार पर अनौचित्यपूर्ण खंडन करते हुए, सर्वथा भौतिकसुखवाद का एकमात्र समर्थन ही चार्वाक दर्शन का उद्‌देश्य रहा है। वर्ण व्यवस्था के विरोध में चार्वक दर्शन का उदय दिखाई देता है। चार्वाक दर्शन के आचार्यो की धारणा में भी, आत्मतत्त्व का प्रभुत्व स्वीकृत था, अत एव उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को 'शरीरत्मवाद' (शरीर ही आत्मा है) कहा है। वस्तुतः, जैसा कि, आगे स्पष्ट होगा, इतर नास्तिक दार्शनिकों, जैन एवं बौद्‌धों की दार्शनिक विचारधारा में भी, क्रमशः एवं विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के सन्दर्भ में, आत्मवाद की प्रच्छन्न पृष्ठभूमि मिलती ही है, भले ही, इन नास्तिकों ने आत्मवाद का खंडन किया हो। यह भी कहना समीचीन ही होगा, कि जैन एवं बौद्ध दर्शनों में अनात्मवाद की प्रतिष्ठा होते हुए भी, मानवता की मानसिकता की पूर्णचिन्ता एवं रक्षा की गयी है। जैन–बौद्ध दर्शन के अहिंसा आदि आचारमूलक सिद्धान्तों से उक्त तथ्य सर्वदा स्पष्ट है। साथ ही, यह भी नितान्त स्पष्ट है, कि जैन–बोद्ध दर्शन अनात्मवादी होते हुए, भी भौतिकतावाद के पूर्णतया निन्दक थे। इस प्रकार अवैदिक होते हुए भी, चार्वाक के मूलकर्त्तन का कार्य, जैन–बौद्धदर्शन से ही आरम्भ होती है। श्रुतिविरोधी होने के कारण, जैन–बौद्धदर्शन अवैदिक अवश्य कहे जाते हैं, किन्तु जैसा कि, आगे स्पष्ट किया जाएगा, इन दोनों का मुख्याधार उपनिषद्‌वर्त्ती सिद्धान्त ही हैं। वैसे तो, यह कथन भी असङ्गत न होगा, कि पूर्वपक्ष के रूप में भूतात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी, प्राणात्मवादी एवं मन आत्मवादी चार्वाक दर्शन औपनिषद ही हैं–

''स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'' (तै. उ. 2।1।1 भूतात्मवाद)

''ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः'' (छा. उ. 5।2।6– इन्द्रियात्मवाद)

''अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'' (तै. उ. 2।2।1 प्राणात्मवाद)

''अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'' (तै. उ. 2।3।1 मन आत्मवााद)

चार्वाक नाम क्यों पड़ा

चार्वाक का प्राचीन नाम लोकायत है। वैदिक शास्त्रीय प्रमाण को न मानने के कारण , केवल बौद्धिक तर्को का अनुसरण करने वाले तथा भोगवाद एवं ऐहिक सुख के लिप्सु, सामान्य जनों का दर्शन होने के कारण ही, इस दर्शन का नाम लोकायत (लोक+आयत) पड़ा।

एक मत यह भी है, कि बृहस्पति के शिष्य चार्वाक ने इस मत का विशेष प्रचार किया था, अतएव इसका नाम चार्वाक प्रसिद्ध हो गया।

एक मत के अनुसार, क्योंकि इसमें चार्वी (चर्व अर्थात् खाने–पीने की) बुद्धि की ही बलवत्ता है, इसलिए इसका नाम चार्वाक पड़ा है। चार्वो नामक एक आचार्य का उल्लेख भी काशिका वृत्ति में मिलता है।

षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न का कहना है, कि चार्वाकों द्वारा पुण्य एवं पापादि परोक्ष विचारों का चर्वण (भक्षण) करने के कारण, इस दर्शन का नाम चार्वाक पड़ा है। गुणरत्न का कथन है, कि चार्वाक साधारण जनों का दर्शन है।

क्योंकि, चार्वाकदर्शन में सामान्य जनों की प्रिय, मात्र भोग की ही वाणी (चारु वाक्) है, इसलिए चार्वाक दर्शन की प्रसिद्धि हुई।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, बृहस्पति आचार्य के द्वारा इसकी प्रस्थापना होने के कारण, चार्वाक दर्शन का एक नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

चार्वाक दर्शन की प्राचीनता

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, चार्वाक दर्शन का आरम्भ पूर्वपक्ष के रूप में, उपनिषदों में ही मिलना आरम्भ हो जाता है। बुद्धघोष ने लोकायत का अर्थ वितण्ड सत्य किया है।–

नयायमञ्जरीकार ने भी इसे बतलाए हुए, इसकी प्रामाणिकता का खंडन किया है–

नहि लोकायते किण्चित्कर्तव्यमुपदिश्यते।

वैतण्डिककथेवासौ न पुनः कश्चिदागमः।। न्यायमञ्री।

वाल्मीकिरामायण के अन्तर्गत चार्वाक की निरर्थकता सिद्ध करते हुए, कहा गया है–

कच्चिन्न लोकायतिकान्ब्राह्मणांस्तात सेवसे।

अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ।।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।

बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते।। (वाल्मीकिरामायण, अयोध्या. अ. 112, श्लोक, 38, 39)

जैन दर्शन

जैनधर्म–दर्शन जैनों के अनुसार जैन धर्म को अनादि स्वीकार करते हुए, इस मान्यता का समर्थन किया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में सदैव अनेक तीर्थङ्करों द्वारा जैनधर्म के उपदेश प्रदान करने की प्रथा रही है, किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से महावीर (ई. पू. छठीं शताब्दी) तथा पार्श्वनाथ (ई. पू. आठवी. शताब्दी) से जैन धर्म–दर्शन का प्रवर्त्तन प्रायः स्वीकार किया जाता है। इन दोनों में भी पार्श्वनाथ को ही जैनधर्म का प्रथम प्रवर्त्तक मानना संगत होगा, क्योंकि ये तेईसवें तीर्थङ्कर थे। जैनधर्म के श्रद्धालुओं की एक और मान्यता है कि जैनधर्म के प्रथम प्रवर्त्तक ऋषभदेव थे, जिनका काल करोड़ों वर्ष पूर्व माना जाता है। जैनधर्म के उद्गम के सम्बन्ध में एक और दार्शनिक, आरिष्टनेमी का भी उल्लेख मिलता है, जिनके बारे में कहा जाता है, कि ये महावीर से चौरासी हजार वर्ष पूर्व स्थित थे। किन्तु, प्रामाणिकता की दृष्टि से पार्श्वनाथ को ही जैन धर्म का प्रथम प्रवर्त्तक मानना समुचित होगा।

पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। इनका जन्म (800 ई.) काशी में हुआ था। इनकी माता का नाम महारानी मायादेवी था, तथा इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे। कहते हैं, इनकी माता ने अपनी बगल में कृष्ण सर्प को, इनके जन्म के पहले,

रेंगते हुए देखा था। यही कारण था कि इनका नाम पार्श्वनाथ रखा गया। पार्श्वनाथ ने लगभग तीस वर्ष तक गृहस्थ आश्रम का अनुभव किया। इसके पश्चात् ये सुखमय जीवन को त्याग कर भिक्षु हो गए, तथा इन्होंने घोर तपश्चर्या के फलस्वरूप कैवल्यानन्द का अनुभव किया। पार्श्वनाथ ने जैन धर्म का प्रचार प्रसार करते हुए सत्तर वर्ष की आयु में ''समेत शिखा'' पर निर्वाण प्राप्त किया। जैनधर्म द्वारा स्वीकृत पञ्चमहाव्रतों–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में इनका मत महावीर से इस दृष्टि से भिन्न है, कि ये उपर्युक्त महाव्रतों में प्रथम चार को ही अपेक्षित समझते थे, ब्रह्मचर्य को नहीं। महावीर उपर्युक्त पाँचों व्रतों को आवश्यक मानते थे। दोनों की विचार दृष्टि का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है, कि पार्श्वनाथ महावीर के समान जैन धर्मानुयायियों के दिगम्भर होने के पक्षपाती नहीं थे। इस प्रकार यह कथन समुचित होगा, कि महावीर के समान पार्श्वनाथ जैनधर्म में कठोरता के समर्थक नहीं थे।

वर्धमान महावीर

महावीर जैनधर्म के 24 वें तीर्थङ्कर हैं। तीर्थङ्कर का अर्थ तीर्थ अर्थात् घाट का निर्माण करता है। जिस प्रकार तीर्थ का घाट प्राणियों का उद्धार किया करते थे।इनका वास्तविक नाम वर्धमान था। किन्तु रागद्वेषादि एवं कामादि शत्रुओं को जीत लेने के कारण वर्धमान ''जिन'' (जेता) एवं ''महावीर'' के नाम से प्रख्यात हुए। जैन भिक्षुओं को ईश्वर के समकक्ष स्थान देते हुए उन्हें 'अर्हत्' भी कहा गया। अत एव 'अर्हत्' अर्थात् जैनों द्वारा प्रचारित होने के कारण जैनधर्म को 'आर्हत्' कहा गया। महावीर का जन्म बिहार के मुजफफरपुर जिले के ग्राम, आसाढ़ वैशाली में, 'ज्ञातक' नामक क्षत्रिय वंश में ई. पू. 588 में हुआ था। इनकी माता का नाम त्रिशला तथा पिता का नाम सिद्धार्थ था। अपने कुल (ज्ञातक) के आधार पर इन्हें पाली भाषा में नामपुत्त अर्थात् ज्ञातिपुत्र भी कहा जाता था। श्वेताम्बरों के अनुसार इनका विवाह यशोदा देवी के साथ सम्पन्न हुआ। किन्तु दिगम्बरों को यह स्वीकार नहीं है। जैन परिवार में जन्म लेने के कारण महावीर में संसार के प्रति वितृष्णा का भाव आरम्भ से ही था। किन्तु, फिर भी, माता–पिता के दिवङ्गत होने के पश्चात् ही, अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर इन्होंने 30 वर्ष की आयु में गृह त्याग किया, और ये जैन भिक्षु हो गये। इसके पश्चात् महावीर ने ऋजुकूला नदी के तट पर 13 वर्ष तक घोर कठोर तपस्या की, तथा 'कैवल्य' लाभ किया, तथा ये 'केवली' कहलाए। इन्होंने जैनधर्म की शिक्षा दीक्षा सर्वप्रथम अपने शिष्य इन्द्रभूति को प्रदान की थी, जो बाद में गोतम के नाम से प्रसिद्ध हुए। महावीर ने बयालीस वर्ष तक जैनधर्म का प्रचार–प्रसार करते हुए पञ्चमहाव्रतों–अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह पर विशेष बल दिया था। ये तत्कालीन राज्यों, अंग, मगध और कौशाम्बी में भी गए, और वहाँ जाकर लोगों को जैनधर्म के उपदेश दिए। किन्तु महावीर के उपदेशों का प्रधान स्थान मगध की तत्कालीन राजधानी 'राजगिरि' था। इनके उपदेशों का माध्यम अर्धमागधी थी। अर्धमागधी के द्वारा ही, इन्होंने उत्तर भारत में जैन धर्म दर्शन का प्रचार प्रसार किया। इस प्रकार 62 वर्ष की आयु में महावीर ने 'पावापुरी' में निर्वाण को प्राप्त किया।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव, देखा जाय, तो उसी समय हो गया था, जब पार्श्वनाथ वस्त्र पहनने के पक्षपाती थे और महावीर दिगम्बर रहने का समर्थन करते थे। महावीर ने जैनधर्म एवं सिद्धान्तों के प्रचारार्थ संघ की स्थापना की थी, जिसमें स्त्री एवं पुरुष सभी सम्मिलित थे। महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद तक महावीर द्वारा स्थापित संघ का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। ई. पू. 317 में संघ के

सञ्चालन का कार्य जैन साधु भद्रबाहु के हाथों में आया। किन्तु इसके सात वर्ष पश्चात् ई. पू. 310 में संघ के भयङ्कर अकाल पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप भद्रबाहु अपने अनेक शिष्यों के साथ दक्षिण की ओर चले गए, तथा संघ का भार, स्थूलभद्र को सौंप गए। स्वाभाविक था, भद्रबाहु को पैदल यात्रा के कारण आने जाने में बहुत समय लग गया। परिणामतः, इस बीच में स्थूलभद्र ने संघ की बृहत् सभा बुलाकर जैनधर्म की समस्याओं के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया इस सभा में महावीर की परम्परा के विपरीत श्वेत वस्त्र धारण करने का भी निर्णय किया गया था। इतना ही नहीं, स्थूलभद्र ने भद्रबाहु की अनुपस्थिति में जैनागमों का नवीन संग्रह भी आरम्भ कर दिया। जब भद्रबाहु दक्षिण की यात्रा से लौटकर आए तो उनसे यह न सहा गया, तथा वे क्षुब्ध होकर अपने अनेक शिष्यों के साथ मगध को छोड़कर चले गए। इसी समय श्वेताम्बर एवं दिगम्बर का स्पष्ट विभाजन हुआ। जो भद्रबाहु के साथ चले गए, वे दिगम्बर कहलाए, क्योंकि वे महावीर के अनुयायी होने के कारण, वस्त्र नहीं धारण करते थे। इसके अतिरिक्त जो स्थूलभद्र के साथ मगध में ही रह गए, वे श्वेताम्बर कहलाए, क्योंकि उन्होंने भद्रबाहु की अनुपस्थिति में श्वेत वस्त्र धारण करने का निर्णय ले लिया था। यहाँ यह कहना होगा, कि इन दोनों सम्प्रदायों में दिगम्बर होने, न होने का भेद तो था, किन्तु वैचारिक दृष्टि प्रायः समान ही थी, जैसा कि नीचे स्पष्ट हो जाएगा।

दिगम्बरों के अनुसार स्त्री तीर्थङ्कर नहीं हो सकती, अतः वे उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्ली को पुरुष ही मानते थे, किन्तु इसके विपरीत श्वेताम्बरों का मानना है कि उन्नीसवीं तीर्थङ्कर मल्ली स्त्री थी। दिगम्बरों का यह भी मानना था, कि स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हो सकती। इसके विपरीत श्वेताम्बरों का कहना था, कि 'सम्यक् ज्ञान' के द्वारा स्त्रियों को भी मोक्षलाभ सम्भव है।

दिगम्बर इस तथ्य का समर्थन करते थे, कि जैन साधु कैवल्यज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् खाना छोड़ देते हैं, परन्तु इसके विपरीत श्वेताम्बरों को यह स्वीकार्य नहीं था।

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों का, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह प्रधान भेद था, कि दिगम्बर वस्त्र धारण करने के विरोधी थे, जब कि श्वेताम्बर, श्वेतवस्त्र धारण करने के पक्षपाती थे।

दिगम्बर, क्योंकि वस्त्र धारण करने के विरोधी थे, अतः वे तीर्थङ्करों की मूत्तियों को भी वस्त्र पहनाना उचित नहीं मानते थे, जबकि श्वेताम्बरों को यह स्वीकार्य ही नहीं था।

प्रसिद्ध जैन दार्शनिक, उमास्वामी (दिगम्बरों के अनुसार) को श्वेताम्बर उमास्वामी नाम देते थे। उमास्वामी ने तत्त्वार्धाधिगम सूत्र की रचना की थी।

जैसा कि, ऊपर संकेत दिया गया है, महावीर द्वारा स्थापित संघ के अध्यक्ष भद्रबाहु की अनुपस्थिति में स्थूलभद्र ने नये सिर से अनेक आगम ग्रन्थों का संग्रह किया था, किन्तु यह मत दिगम्बरों को स्वीकार नहीं है। उनका कहना है, कि उसके पूर्व ही 'पुब्बों' तथा 'अंगों' (धार्मिक ग्रन्थों) का विनाश हो चुका था। श्वेताम्बर यह नहीं मानते थे। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थों के नाम में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। दिगम्बरों का विचार है, सिद्धसेन दिवाकर ने राजा विक्रमादित्य (186–261 ई.) को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। इसके विपरीत श्वेतामबर सम्प्रदाय, यह मानता है, कि दीक्षा का समय ई. पू. 56 था। दिगम्बर सम्प्रदाय का विश्वास है, कि जिन्होंने कवैल्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनमें 'ज्ञान' एवं 'दर्शन' दोनों एक साथ अभिव्यक्त होते हैं, किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय इनका क्रमिक विकास मानता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु एकान्तवास करते हैं, किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायानुयायी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि दिगम्बर सम्प्रदाय के, कालान्तर में अनेक भेद विभेद उत्पन्न हो गए थे। उदाहरणार्थ, जब महावीर तथा भद्रबाहु के द्वारा आरब्ध दिगम्बर सम्प्रदाय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय से भिन्न हो गया, तो दिगाम्बर सम्प्रदाय के, कारणसंघ, मूलसङ्घ, माथुरसङ्घ तथा गोप्यसङ्घ, ये चार मुख्य विभााग हुए। इनमें गोप्य संघ एक समन्वयवादी संघ था। इसके कुद सिद्धान्त यदि दिगम्बर सम्प्रदाय को अभीष्ट थे। जैसे गोप्यसङ्घ के साधु हाथ में रखकर भोजन किया करते थे। वे सब बातें दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुरूप थीं। इसके साथ ही, गोप्यसंघी यह भी मानते थे, कि स्त्रियां भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं तथा केवल जैन मुनि ही भोजन करते हैं। ये दोनों बातें श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुरूप थीं। इस प्रकार दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय का मतभेद आद्यावधि चला आ रहा है।

जैन–आगमसाहित्य

जैनधर्म के अन्तर्गत मूल ग्रन्थ ''आगम'' हैं। जैनधर्म ही नहीं, शैव एवं वैष्णव धर्म के अन्तर्गत भी आगम साहित्य वर्तमान है। आगम किसी एक समय की रचना नहीं होते, अपितु इनकी रचना बहुत कुछ श्रुत परम्परा के आधार पर होती है।

जैनागमों के सम्बन्ध में भी 'आगम' का उपर्युक्त स्वरूप प्राप्त है। जैन सांख्य की मुख्य दो परम्पराएं हैं– एक अचेलक परम्परा तथा दूसरी सचेलक परम्परा। अचेलक परम्परा से दिगम्बर परम्परा का अभिप्राय है, तथा सचेलक परम्परा से श्वेताम्बर परम्परा का। दोनों ही परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं, कि आगमों के अध्ययन–अध्यापन की परम्परा दुष्काल आदि के कारण स्थिर न रह सकी।

परिणामतः आगमों के वाचनाभेद–पाठभेद होते गए। सचेलक परम्परा द्वारा जब आगमों का पुस्तकबद्ध किया गया, तो भ्रमणसंघ ने इकट्ठा होकर जो माथुरी वाचना (पाठ) रखी, वह ग्रथबद्ध की गई। साथ ही, उपर्युक्त वाचना भेद भी लिखे गए। अचेलक परम्परा के आचार्यो ने, जिनमें धरसेन, यतिवृषभ, कुंदकुंद एवं भट्ट अकलंक प्रमुख थे, उक्त पुस्तकबद्ध आगमों एवं इनके पूर्ववर्त्ती उपलब्ध आगमों के आधार पर नवीन जैन साहित्य का प्रणवन किया।

वस्तुतः, आगम भगवान् महावीर की वाणी रूप हैं, जिनका संकलन पश्चाद्वर्त्ती गणधरों ने अर्धमागधी प्राकृत में श्रुतपरम्परा के आधार पर किया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि श्वेताम्बर सम्प्रदायी स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में एक सभा में आगमों का जो संकलन किया था, वह सर्वमान्य नहीं हो सका था। अत एव गुजरात के वल्लभी नगर में आचार्य देवार्धगणि की अध्यक्षता में एक सभा 858, ई. में बुलायी गयी थी किन्तु, इस सभा में भी सर्वसम्मति से कोई निर्णय नहीं हो सका। फिर भी, श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार अंग, पूर्व (पूब्ब), छेदसूत्र, मूलसूत्र एवं चूलिकसूत्र, इन पाँच आगम –ग्रन्थों का संकलन किया गया। इनके सम्बन्ध में,यत्किञ्चित् निरूपण अपेक्षित है।

अंगों का एक बाह्य रूप है और दूसरा अन्तरंग । बाह्यरूप के अन्तर्गत अंगों का परिणाम अथवा पद परिणाम आता है, तथा अन्तरंग रूप के अन्तर्गत अंगों के विषयादि का विवेचन गृहीत है। अंगों की संख्या द्वादश है। ये द्वादश अंग, आचारांग सूत्र, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद् दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत तथा दृष्टिवाद हैं।

आगम ग्रन्थों के पूर्ववर्त्ती होने के कारण इन्हें पूर्व कहा जाता है। ये संख्या में चौदह हैं, तथा इनका उल्लेख दृष्टिवाद नामक 'अंग' ग्रन्थ के अन्तर्गत उपलब्ध है। ये चौदह पूर्व ग्रन्थ, उत्पाद, अग्राणीय, वीर्य प्रवाह, अस्ति नास्तिप्रवाह, ज्ञान प्रवाह, सत्यप्रवाह, आत्म प्रवाह, कर्मप्रवाह, प्रत्याख्यान प्रवाह, विद्यानु प्रवाह, अवन्ध्य, प्राणायु, क्रिया विशाल तथा लोकबिन्दुसार हैं। ये ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं।

उपर्युक्त पूर्वो के 12 प्रसंग तथा 10 प्रकीर्णो का भी उल्लेख मिलता है। बारह उपांग ग्रन्थ, औपपातिक, राज प्रश्नीय, जीवाभीराम, प्रज्ञापना, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निर्यावलिका, कल्याव तांसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका तथा वृष्णिदशा हैं। प्रकीर्णग्रन्थ, चतुःशरण, आतुर प्रत्याख्यान, भक्त परिज्ञा, संस्तार, तण्डुलवैतालिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणितविद्या, महाप्रत्याख्यान तथा वीरस्तव हैं।

छेदसूत्र–छेदसूत्र आगम ग्रन्थ के अन्तर्गत निशीथ सूत्र, महानिशीथ सूत्र, व्यवहार सूत्र, आचार दशा, बृहत्कल्प तथा पञ्चकल्प आते हैं।

मूलसूत्र– मूलसूत्र नामक आगम में उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक, दशवैकालिक तथा पिण्डनिर्युक्ति गृहीत हैं।

चूलिकसूत्र– चूलिकसूत्र आगम के अन्तर्गत नन्दी सूत्र तथा अनुयोगोद्धार सूत्र गृहीतव्य हैं।

जैन दार्शनिक आचार्य और उनके ग्रन्थ

जिन जैन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन उपर्युक्त आगम ग्रन्थों के द्वारा सम्पन्न हो चुका था उनका विस्तृत निरूपण एवं विवेचन जैन दर्शन के आचार्यो के द्वारा सम्पन्न हुआ था।। इस दर्शन पर जैन दर्शन के इन आचार्यो तथा उनकी महत्त्वपूर्ण देन के सम्बन्ध में विचार करना समीचीन होगा।

कुन्दकुन्द

कुन्दकुन्दाचार्य का स्थितिकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। ये द्रविड देश के प्राख्यात आचार्य थे। ये जैनाचार्य उमास्वाति के समसामयिक थे। कुन्दकुन्द का द्रविड़ नाम 'कुण्डाकुण्ड' था। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थों में 89 पाहुड़ों (प्राभृतों) का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इनके चार ग्रन्थ, नियमसार, पञ्चास्तिकायसार, समयसार एवं प्रवचनसार जैनागम के नितान्त प्रमुख ग्रन्थ हैं। जैन साहित्य में, ये ग्रन्थ अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण समझे जाते हैं। उक्त चार ग्रन्थों में से, अन्तिम तीन ग्रन्थ ''नाटकत्रयी'' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैनदर्शन में, इस 'नाटकत्रयी' का वही महत्त्व है, जो वेदान्तदर्शन में प्रस्थान त्रयी उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता का है। यहाँ यह कहना और अपेक्षित है कि कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के मान्य थे।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन उपनिषदों के आत्मवाद की प्रतिक्रिया है। जैसा कि, कहा जा चुका है, नास्तिकत्रयी चार्वाक, जैन एवं बौद्ध उपनिषद्वर्त्ती आत्मास्तित्ववाद की साक्षात् प्रतिक्रिया से प्रादुर्भुत हुए हैं। वस्तुस्थिति यह है, कि औपनिषद दर्शन के अन्तर्गत आत्मवाद एवं अध्यात्मवादी दर्शन की प्रचुरता होने के कारण ही बार्हस्पत्य दर्शन (चार्वाक) के अन्तर्गत चरम भौतिकवाद का उदय हुआ था, एवं चार्वाक के आचारहीन दर्शन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आचारवादी जैन एवं बौद्धदर्शन का विकास हुआ था। बौद्ध दर्शन कर्मकाण्ड के विरोध तथा वर्ण–व्यवस्था के कट्टर विरोध के कारण

पैदा हुआ था। तात्कालिक समय में वर्ण–व्यवस्था कठोर जैन एवं बौद्धदर्शन के अध्यात्मवाद के विकास के मूल में उपनिषदों के आत्मवाद एवं चार्वाक के भोगवाद की मिली जुली प्रतिक्रिया थी। किन्तु उपनिषदों की प्रतिक्रिया के साथ साथ उपनिषद्वर्त्ती आत्मवाद, पुनर्जन्म के सिद्धान्त, कर्मफल भोग का सिद्धान्त एवं निर्वाण की पृष्ठभूमि भी बौद्धों को एक अच्छी धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी। बौद्धों के असंगादि निराकर एवं निरूप, किन्तु उपनिषदों के अनिर्वचनीय 'विज्ञान' एवं नागार्जुन के 'शून्य' में उपनिषदों के निर्गुण एवं निराकार आत्मा की छाया दुर्लभ नहीं है। बौद्धों का 'तथता' सिद्धान्त भी उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' एवं आत्मवाद का ही साक्षात् स्मरण दिलाता है। इसके अतिरिक्त सब धर्म निःस्वभाव होने से शून्य हैं। यहाँ, यह द्रष्टव्य है, कि उपनिषदों में भी आत्मा ब्रह्म स्वरूप मोक्ष के अतिरिक्त अनात्म जगत् की असत्यता सिद्ध की गई है। इससे हमारा यही मन्तव्य है, कि उपनिषदों की प्रतिक्रिया होने पर भी बौद्धदर्शन को उपनिषद् दर्शन से साक्षात् एवं प्रबल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी।

गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध का जन्म 505 वि० पू० (448 ई. पू.) में लुम्बिनी में, जो प्राचीन नगर कपिलवस्तु के समीप (नेपाल) है, हुआ था।कुछ विद्वान् इनका जन्म समय 505 वि. पू. तदनुसार 563 ई. पू. वैशाख पूर्णिमा मानते हैं। इनकी माता महामायादेवी तथा पिता शाक्य गणप्रिय शुद्धोदन थे। ऐसा कहा जाता है, कि ज्योतिर्विदों ने इनके जन्म के समय यह भविष्यवाणी की थी, कि ये किसी जर्जर वृद्ध, रोगी पुरुष, मृत व्यक्ति एवं भिक्षु को देखकर संन्यास ग्रहण कर लेगें। यह जानकर बुद्ध के पिता ने उनका विवाह कर दिया तथा उनके लिए अनेकविध विलासमयि सुख सज्जा की व्यवस्था की जिससे बुद्ध भोगविलासमय जीवन व्यतीत करें और उनमें संन्यास की प्रवृत्ति उत्पन्न न हो। किन्तु भवितव्यता कुछ विपरीत ही थी। जब जब बुद्ध वृद्ध, अत्यन्त कष्ट भोगते रोगी आदि को देखते थे, तो उनका मन कष्ट एवं करुणा से आप्लावित हो उठता था। इससे उन्हें संसार की अस्थिरता और क्षणभंगुरता का बोध हुआ जिसके परिणामस्वरूप वे जीवों के क्लेश निवाणारार्थ पूर्णतया तत्पर हो गए। इस प्रकार अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बुद्ध ने 29 वर्ष की अवस्था में सर्वथा गृहत्याग दिया यही उनका 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाया। पहले, पैदल चलकर बुद्ध राजगिरि (राजगृह) पहुँचे इसके पश्चात् वहाँ से वे अरुवेला पहुँचे जहाँ उन्होंने अन्य पाँच संन्यासियों के, अत्यन्त कठोर व्रत एवं आत्मानुशासन के पथ पर चलना आरम्भ किया। इसका यह परिणाम हुआ कि उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया और एक दिन वे बेहोश होकर गिर पड़े और उनकी मृतवत् स्थिति हो गईं। इस घटना के छः वर्ष के पश्चात् गौतम बुद्ध ने अनुभव किया, कि कठोर व्रत एवं नियमों के पालन से सांसारिकों की क्लेश निवृत्ति सम्भव नहीं है अतः वे भ्रमण के लिए निकल पड़े। 461 वि. पू. में, वैशाख मास की पूर्णिमा को बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया। इसके पश्चात् काशी के समीप सारनाथ में कौण्डिन्य आदि पाँच भिक्षुओं को सर्वप्रथम उपदेश प्रदान कर धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया। इसके अनन्तर गणराज्य के आदर्शो में निमित्त बुद्ध ने भिक्षुसंघ की सथापना की तथा संसार को समस्त क्लेशों से मुक्ति दिलाने के लिए 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा में तत्पर हो गए। अन्त में, 483 ई. पू. वैशाख मास की पूर्णिमा तिथि को, 80 वर्ष की आयु में मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (आज, कसया, गौरखपुर) में, बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। यह उल्लेखनीय है, कि बुद्ध का जन्म बोधि प्राप्ति एवं निर्वाण की प्राप्ति वैशाख मास की पूर्णिमा को ही सम्पन्न हुई थीं। इसीलिए, बौद्ध धर्म के अनुयायियों में वैशाख मास की पूर्णिमा का विशेष महत्त्व है। अधुना, बौद्ध पूर्णिमा के विशेषोत्सव का भी यही आधार है।

आधुनिक न्यायदर्शन

न्याय शब्द का अर्थ

न्याय शब्द के गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिये न्याय शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। न्याय का आदिम रूप हमें उन वैदिक एवं औपनिषद शास्त्रार्थों तथा विद्वानों के वाद विवादों में मिलता है, जिनमें विद्वज्जन एक दूसरे को परास्त करना ही अपने वैदुष्य का चरम लक्ष्य समझते थे। मेरा विचार है कि इस प्रकार के शास्त्रार्थो एवं वाद विवादों में विद्वानों की रुचि इतनी बढ़ गई कि उन्होंने शास्त्रार्थ प्रणाली को स्वतन्त्र अध्ययन का विषय बना लिया। यही शास्त्रार्थ जातुचित् वाको वाक्य के नाम से प्रसिद्ध हुए होगें। आपस्तम्ब ने जो बूलहर के मतानुसार ई. पू. तीसरी शताब्दी में वर्त्तमान थे, न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के अर्थ में किया है।

प्राचीन काल में न्याय के लिए ''आन्विक्षिकी'' का प्रयोग प्रायः होता था। आन्वीक्षिकी का उल्लेख उपनिषदों, रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, गौतमधर्मसूत्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। वात्सायान के अनुसार प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व का परीक्षण न्याय है– ''प्रमाणैरर्थपरिक्षणं न्यायः।'' (वात्स्यायन भाष्य, 1।1।1) पारिभाषिक अर्थ में, प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, परार्थानुमान के इन पाँच अवयवों को न्याय कहते हैं। न्याय शब्द का अर्थ आन्वीक्षिकी भी किया गया है। कौटिल्य (320 ई. पू.) ने अपने अर्थशास्त्र (द्वितीय अध्याय) के अन्तर्गत न्याय अथवा वैशेषिक का उल्लेख न करके, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति के अध्ययन पर बल दिया है। कौटिल्य लिखते हैं– ''सांख्ययोगो, लोकायतं चेत्यानवीक्षिकी। धर्मधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्तायाम्। बलाबलं चैतासां हेतुभिरण्वीक्षमाण आन्वीक्षिकी लोकस्योपकरोति। प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता''। अनुमान की प्रक्रिया का 'हेतु' प्राण है। अतः न्याय, 'हेतुशास्त्र' एवं हेतुविद्या के रूप में भी प्रख्यात है। 'वादविद्या' एवं 'तर्कविद्या' के रूप में भी न्याय शब्द का व्यवहार होता है। प्रमाणशास्त्र के रूप में भी न्याय शब्द का प्रचलन देखने में आता है। न्याय शब्द का एक अर्थ, औचित्य निर्णय भी है। इसी आधार पर भाष्यकार वात्स्यायन एवं वाचस्पति मिश्र ने न्याय की परिभाषा ''प्रमाणैरर्थपरिक्षणं की है।

न्यायसूत्र का संक्षिप्त वर्ण्य विषय

न्यायसूत्र का प्रमुख वर्ण्य विषय साङ्गोपाङ्ग प्रमाण निरूपण है। न्याय सूत्रकार गौतम ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आप्त, इन चार प्रमाणों की न्यायसूत्र के अन्तर्गत विस्तार से व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त प्रमाणज्ञेय प्रमेयों आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, एवं इन्द्रिय विषयों से मुक्ति (अपवर्ग) की प्राप्ति कराना है। मन, जो अणु, सूक्ष्म एवं नित्य है, आत्मा के सुख एवं दुःखादी के भोग का निमित्त है। मन अतिरिन्द्रिय है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत सुखानुभूति की प्रक्रिया यह है, कि जब आत्मा का मन तथा इन्द्रियों द्वारा किसी पदार्थ से सम्बन्ध होता है, तो उसे एक प्रकार की सुखानुभूति होती है, किन्तु यह सुखानुभूति आत्मा का नित्य गुण नहीं है। जब आत्मा अपवर्ग दशा को प्राप्त करता है, तो उसका समस्त सांसारिक विषयों से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। मन परमाणु तथा आत्मा अमर एवं चैतन्य स्वरूप है। न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा ही सदसत् कर्म के फल का भोक्ता हैं। अतः प्रमाण–प्रमेयादि के तत्त्वज्ञान से मुक्ति भी आत्मा की ही होती है।

नैयायिक के अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की यह विशेषता है, कि उसके अनुसार मोक्षावस्था में किसी आनन्द की अनुभूति नहीं होती, जैसा कि वेदान्तादि अन्य दर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। अत एव न्यायसम्मत मुक्ति को जडस्वरूपा कहा गया है। न्यायदर्शन के

अन्तर्गत ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादन अनेक युक्तियों के आधार पर किया गया है। न्यायदर्शन का तर्क है, कि सूर्य चन्द्रादि सांसारिक पदार्थो की सृष्टि अत्यल्प शक्ति–सम्पन्न मनुष्य के द्वारा सम्पन्न नहीं है। अतः समस्त संसार का सृष्टा ईश्वर ही है। ईश्वर सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यशाली एवं सर्वज्ञ है। ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण लोक कल्याण के लिए किया है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र होने के कारण शुभाशुभ कर्मो के सम्पादन के द्वारा सुख दुःखादि का भोक्ता बनता है।

इस प्रकार सृष्टि वैशम्य का कारण मनुष्यों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म हैं। ईश्वर के अनुग्रह से व्यक्ति शुभकर्मो में प्रवृत्त होता हुआ तत्वज्ञान के प्रति जागरूक होकर मोक्षपथ में अग्रसर होता है।

वैशेषिक दर्शन में सम्पुर्ण विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है यह दर्शन भारतीय दर्शन में अन्यतम है जिसे मनुष्यों ने सहज ही समझ लिया है इस दर्शन का प्रवर्त्तन महर्षि कणाद ने किया है। उनका वस्तुतः नाम 'उलुक' था। वे अत्यन्त संतोषी और धीर थे। उन्होने अपनी साधना से कृषि योग्य क्षेत्र से फसल रूप मे एकत्र किये जाने के बाद उपलब्ध कणों को बीन बीनकर अपना आहार बनाया, इसलिए उनका नाम कणाद पड़ा। कणं अत्ति (भक्षयति) इति कणाद। कणों (दाने) से भोजन तैयार करने ग्रहण करने की प्रक्रिया अपनाने वाला व्यक्ति कणाद कहा जायेगा। इसलिए वे कणाद उपनाम से प्रसिद्ध हो गये। इसके अतिरिक्त उन्होने विश्व के कण–कण से शिक्षा प्राप्त की अर्थात् विश्व के प्रत्येक कण के विषय में जानकारी प्राप्त करने के कारण भी उनको कणाद कहा गया। उनके लिए जगत् का प्रत्येक कण 'गुरु' था।

वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी है। वह इस गोचर जगत् को सत्य मानता है। विशेष का अर्थ पदार्थ से है अतः यह वैशेषिक दर्शन कहा गया। साथ ही उलूक नाम होने से इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहा जाता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों का उद्देश्य 'जीवन मोक्ष' ही है। दोनों में अज्ञान को ही सभी दुखों का कारण बताया गया है। दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति (मोक्ष) तत्व ज्ञान से सम्भव है। न्याय वैशेषिक में अन्तर भी है– 1. न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दचार प्रमाण माने गये हैं जबकि वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं। 2. नैयायिकों ने सोलह अर्थ बताये हैं जबकि वैशेषिक केवल सात पदार्थ ही बताते हैं।

वैशेषिक में पदार्थ

वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। पदार्थ से तात्पर्य यह है कि वे सभी वस्तुएँ पदार्थ हैं, जिन्हे कोई नाम दिया जा सके। इस मतानुसार पदार्थो की संख्या सात बतायी गयी है। वे इस प्रकार है–1. द्रव्य, 2. गुण, 3. कर्म 4. सामन्य 5. विशेष 6. समवाय, 7. अभाव।

वैशषिक दर्शन में पदार्थो को दो भागों में बाँटा गया है–**1. भाव पदार्थ, 2. अभाव पदार्थ।** जिन पदार्थो की सत्ता है, विद्यमानता है, उन्हें भाव पदार्थ कहते हैं और वे संख्या में छः बताये गये हैं– 1. द्रव्य, 2. गुण, 3. कर्म, 4. सामान्य, 5. विशेष, 6. समवाय। **अभाव** पदार्थ को पिछले विद्वानों ने सम्मिलित कर दिया।

द्रव्य और गुण कर्म का आश्रय द्रव्य कहा जाता है। इसकी व्याख्या इस तरह की जा सकती है कि गुण या कर्म स्वयं में द्रव्य से भिन्न है क्योंकि गुण या कर्म सदैव द्रव्य

के बिना नहीं रह सकते। प्रत्येक द्रव्य अपने सभी गुणों अथवा कार्यो के लिए समवायिकारण हुआ करता है। इसी बात को महर्षि कणाद ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि क्रिया का आश्रय, गुण का आश्रय अथवा समवायिकारण जो पदार्थ होता है, वही द्रव्य है। (वैशेषिक सूत्र–1।1।15)। जिस क्षण द्रव्य की उत्पत्ति होती है, उस क्षण उसमें कोई भी गुण या क्रिया नहीं होती– उत्पन्नं द्रव्यं अणुमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठिति (तर्क भाषा पृष्ठ–33)। 'वस्त्र का उदाहरण देते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में किसी भी रंग के तन्तुओं का संयोग वस्त्र को कार्यरूप में परिणत करता है। वस्त्र विशेष तन्तुओं (धागों) से बना है।वे धागे उस वस्त्र में समाहित हैं अतः तन्तु उस वस्त्र के **समवायिकारण** हुए।

कारण तीन होते हैं– **1. समवायिकारण, 2. असमवायिकारण, 3. निमित्तकारण।**

अवयव – अवयवी, गुण–गुणी, क्रिया व क्रियावान्, जाति व व्यक्ति तथा विशेष व नित्य द्रव्य के मध्य रहने वाला सम्बन्ध है। इसे ही अयुतसिद्ध अथवा अपृथकभाव या नित्य सम्बन्ध कारण भी कहते हैं। असमवायिकारण समयावी रहते हुए भी गौण रूप से वस्त्र रूपी कार्य भी निष्पत्ति में सहायक है जैसे तन्तुओं में व्याप्त रंग। तृतीय कारण **निमित्त कारण** बताया गया है। यह निमित्त कारण न तो उपादान कारण ही हुआ करता है और न उपादान कारण का सहयोगी परन्तु वस्त्र रूप कार्य की उत्पत्ति (होने) में सहायक होता है जैसे करघा; वस्त्र का निमित्त कारण है। निमित्त कारणों में प्रयोजन और उपभोग करने वाला भी सम्मिलित होता है।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य नौ प्रकार के बताये गये हैं– 1. पृथ्वी, 2. जल, 3. तेज, 4. वायु, 5. आकाश, 6. काल, 7. दिक्, 8. आत्मा, 9. मन। प्रथम पाँच द्रव्यों को 'पंचभूत' कहते है क्योंकि इन पाँच द्रव्यों में उनके गुण क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द विद्यमान रहते हैं। इन गुणों का प्रत्यक्षीकरण बह्य इन्द्रियों से किया जाता है। (बाह्य इन्द्रियाँ नाक, जिह्वा, चक्षु, त्वचा और कान हैं।) ये इन्द्रियां ही इनके उपादान का कारण होती हैं। गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ग्रहण करने वाले इन्द्रिय क्रमशः पृथ्वी, तेज, जल, वायु और आकाश के कार्य हैं।

पृथ्वी, तेज, जल और वायु परमाणु हैं और किसी भी कारण के रूप में नित्य हैं किन्तु जब वे किसी कार्य रूप में परिणत हो जाते हैं तो अनित्यता की अवस्था में आ जाते हैं। परमाणु अनादि, अनन्त और निरवयव होता है। इन परमाणुओं की संयोजिकता के विश्लेषित होने पर कार्य रूपी द्रव्य का विनाश हो जाता है इसलिए द्रव्य अनित्य है।

कार्य–द्रव्य विभिन्न अवयवों का एक संयुक्त विशेष रूप है। कार्य द्रव्यों का अविभाज्य सूक्ष्म कण परमाणु कहा जाता है। इसी से इसे निरवयव और अनादि कहते हैं और नित्य है।

आकाश पाँचवाँ भौतिक द्रव्य है। इसमें शब्द व्याप्ति है अर्थात् शब्द प्रत्यक्ष है। आकाश प्रत्यक्षता से परे है। किसी भी द्रव्य के बाह्य प्रत्यक्षता के लिए 1. महत्त्व और 2. अद्भूत रूपत्व आवश्यक है। आकाश का रूप न होने से इसे केवल शब्द से अनुमानित किया जाता है। शब्द की उत्पत्ति शून्य में ही सम्भव है। इस तरह आकाश ही शब्द का आधार है जो नित्य और निरवयव है, सर्वव्यापी है, असीम है।

दिक् और काल का कोई गुण नहीं है। ये अगोचर द्रव्य हैं। इनमें प्रत्येक की परस्पर व्यापकता नित्य है। वैशेषिक दर्शन में दिक् और काल की सत्ता का अनुमान करना पडता है।

वैशेषिक दर्शन में आत्मा सम्बन्धी विचार न्याय दर्शन के सदृश ही हैं। कणाद् और प्रशस्तपाद आत्म का मानस प्रत्यक्ष नहीं मानते परन्तु बाद के व्याख्याकारों ने आत्मा का मानस प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। आत्मा नित्य और चैतन्य का आधार है। जीवात्म और परमात्म रूप में दो प्रकार का होता है। जीवात्मा अनेक हैं। परमात्मा एक है।

मन का अस्तित्व अनुमान साध्य है। यह एक अणु द्रव्य है, अगोचर है। मन के द्वारा जीवात्मा के गुणों का प्रत्यक्ष होता है अतः यह अतरिन्द्रिय कहा जाता है। ज्ञान, इच्छा, सुख और दुख आदि का अनुभव मन से होता है। प्रत्येक विषय की इन्द्रिय के लिए तत् विषयगत संयोगार्थ मन के संयोग की आवश्यकता होती है। मन निरवयव होने से अणु है। यदि मन अणुरूप नहीं होता तो एक ही समय में विभिन्न इन्द्रियों के विषयगत अनुभूति होती, एक ही नहीं। मन के माध्यम से आत्मा विषयों को ग्रहण करती है।

गुण वैशेषिक सूत्र–1–1–16 में महर्षि कणाद ने गुण की परिभाषा करते हुए कहा है कि द्रव्यों में आश्रित, गुणरहित और संयोग एवं विभाग का निरपेक्ष कारण न होने वाला अपितु सापेक्ष कारण होने वाला पदार्थ गुण है। वह पदार्थ गुण है जिसमें कर्म से भिन्नता होती है, जो सामान्ययुक्त होता है तथा जो गुण शून्य हो। कर्म तथा गुण द्रव्य में रहते हैं, इसलिए गुण में कोई क्रिया या कोई गुण नहीं रहता। वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुण चौबीस होते हैं। वे इस प्रकार हैं– 1.रूप, 2. रस, 3. गंध, 4. स्पर्श, 5. शब्द, 6. संख्या, 7. परिमाण, 8. पृथकत्व 9. संयोग, 10. विभाग, 11. परत्व, 12. अपरत्व, 13. बुद्धि 14. सुख, 15. दुःख, 16. द्वेष, 17. द्रवत्व, 18. गुरुत्व, 19. स्नेह, 20. इच्छा, 21. प्रयत्न, 22. धर्म, 23. अधर्म, 24. संस्कार।

संख्य दर्शन में भौतिक् जगत की व्याख्या में वैज्ञानिकता है। सांख्य में प्रकृति परिमाण की व्याख्या अति महत्वपूर्ण है। प्रकृति के क्रमिक विश्वास (उत्क्रान्ति) का सिद्धान्त किया गया है। सांख्य के अनुसार प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था विद्यमान है। इस साम्यावस्था की विघटिक अवस्था सृष्टि हैं प्रकृति सूक्ष्म है जिसे अव्यक्त भी बताया गया है। प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि (महतत्व) है। अहंकार से पाँच तन्मात्राएं और एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इसके चौबीस तत्व होते हैं। पच्चीसवाँ तत्व पुरुष है। अविवेक से छुटकारा पाना ही मुक्ति है। पुनर्जन्म केवल लिंग–शरीर का होता है, पुरुष का नहीं। शरीर अठारह तत्वों का बना है।

वैशेषिक साहित्य

वैशेषिक दर्शन का सबसे पहला और प्रमाणित ग्रन्थ 'वैशेषिक सूत्र' है। इसके प्रणेता महर्षि कणाद हैं। इस ग्रन्थ में दस अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय दो भागों में विभाजित है। इस ग्रन्थ पर 'पदार्थ धर्म संग्रह' नामक टीका प्रशस्तपाद ने की है। यह ग्रन्थ मूल ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। 'वैशेषिक सूत्र' पर सिंहल राजा रावण ने अपनी टीका लिखी जो अप्राप्य है। अन्य टीकाकरणों का वर्णन निम्नवत् है।

किरणावली–उदयनाचार्य, 2. न्यायकन्दली–श्रीधराचार्य, 3. सप्तपदार्थी–शिवादित्य(न्याय और वैशेषिक मिश्रीत), 4. तर्क कौमुदी– लौगाक्षि, 5. न्याय लीलावली– बल्लभाचार्य, 6. भाषापरिच्छेद– विश्वनाथ पंचानन और इसके साथ ही सिद्धान्त मुक्तावली नामक टीका भी रचना की गयी। 7. व्योमवति– व्योमशिव। 8. सेतु–पदम्नाम मिश्र। 9. प्रकाश और कष्ठामरण शंकर मिश्र। 10. विवेक टीका पक्षधर मिश्र।

योग दर्शन

पातञ्जल योगसूत्र पर आचार्य व्यास ने योगभाष्य लिखा। इसे व्यासभाष्य भी कहते हैं। व्यास का यह भाष्य अत्यन्त दुरुह परन्तु व्यापक ग्रन्थ है। इसी व्यास भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्ववैशारदी'प्रामाणिक टीका है। इसके अतिरिक्त भोजराज की वृत्ति, योगमणि प्रभा तथा विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक तथा योगसार संग्रह प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'तत्ववैशारदी' पर 'पातञ्जलरहस्य' टीका राघवानन्द द्वारा प्रणीत है। हरिहारानन्द आरण्यक की 'भाष्वती', आचार्य नारायणतीर्थ की 'योग सिद्धान्त चन्द्रिका', भावागणेश कृत 'योगदीपिका' और योगसूत्रवृत्ति, अनन्तदेव पण्डित की 'पदचन्द्रिका', महामहोपाध्याय गोपाल मिश्र कृत 'पातञ्जल सूत्र विवरण' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जिनमें योगदर्शन की सुस्पष्ट व्याख्या की गयी है।

सांख्य और योग का सम्बन्ध– सांख्य और योग दोनों ही समानतंत्र के निर्वाहक हैं। सांख्य को अध्यात्म विद्या का सैद्धान्तिक रूप कहा जाता है जब कि योग उसका व्यावहारिक रूप है। सांख्य दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार विवेक ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त हो सका है। दूसरी तरफ योग–दर्शन में कहा गया है कि 'विवेक ज्ञान' किस तरह प्राप्त किया जा सकता है। दोनों ही दर्शनों में ज्ञान मीमांसा, कर्म मीमांसा, प्रमारण मीमांसा, तत्व मीमांसा, संसार मीमांसा तथा कैवल्य मीमांसा समान रूप से व्यवस्थित की गयी है।

कुछ लोग सांख्य को अनीश्वरवादी बताते हैं जबकि योग दर्शन के अनुयायी ईश्वरवादी हैं। योग का ईश्वरवादी सिद्धान्त सांख्य के 'पुरुष' तत्व से अलग नहीं है। योग में सांख्य दर्शन के अनुसार ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता अथवा कारण नहीं मानता। योग दर्शन के अनुसार ईश्वर प्रणिधान ही एकाग्रता प्राप्त करने का उपाय है। सांख्य के तीन प्रकार के प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द योग दर्शन में भी स्वीकार किये हैं। योग ने सांख्य के पच्चीस तत्व स्वीकार किये हैं। योग दर्शन के अनुसार योग का अभ्यास ही विवेकज्ञान प्राप्त करा सकता है जबकि सांख्य मत में मुक्ति का साधन विवेक ज्ञान बताया है।

योग का महत्त्व– योग साधना से आत्मशुद्धि सम्भव है। शरीर और मन की शुद्धता एवं शान्ति से आत्मोन्नति प्राप्त हो सकती है। इसीलिए योग दर्शन का भारतीय दर्शनों में सबसे अधिक महत्व है। योग के अभ्यास पर वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराणों में चर्चाएं की गयी हैं। गूढ़ सत्यों और रहस्यों को निर्मल अन्तःकरण ही ढूँढ़ सकता है।

मीमांसा दर्शन में दर्शन के विचारों को सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप से सूत्रों में किया गया। । मीमांसा के दो भेद है– 1. पूर्ण मीमांसा और 2. उत्तर मीमांसा। उत्तर मीमांसा में बादरायण के ब्रह्मसूत्र हैं जिनमें उपनिषदों की शिक्षाओं को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। पूर्व मीमांसा में जैमिनी के सूत्र हैं। पूर्व मीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में निर्णय देना है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन के प्रतिष्ठापक महर्षि जैमिनी हैं। मीमांसा से पूर्व मीमांसा की गणना छः भारतीय आस्तिक दर्शनों में की गई है।

मीमांसक लोग वेद को अपौरुषेय और अनित्य मानते हैं। उनमें कोई दोष नहीं है। वेद प्रामाणिक हैं। वेद जिसे कहता है, वह धर्म है और जिसका निषेध करें, वह अधर्म है। यह मनुस्मृति का कथन है– 'वेदप्रणिहितो धर्मः, अधर्मस्तद्‌विपर्ययः'।

मीमांसा दर्शन भी आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है, वह अमर है। जब शरीर के साथ आत्मा की संगति होती है, तो चैतन्य उत्पन्न होता है। युक्त आत्मा विदेह और चेतना शून्य है। आत्मा–देश के संसर्ग से अनेकानेक ज्ञान से मुक्त हो जाती है।

कर्मकाण्ड का सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन के अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है यह वस्तुवादी दर्शन है। कर्म में जगत् की रचना करने की शक्ति विद्यमान है। कर्म ही अदृष्ट या अपूर्व है। कर्म के फल की प्राप्ति स्वयं होती है ईश्वर से नहीं। वेदान्त में मुक्ति का साधन आत्मज्ञान बताया है। आत्मज्ञान तो कर्म त्याग से होता है। परन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार मुमुक्ष कर्म करते रहते हैं। वेद विहित कर्म से बन्धन नहीं होता, सकाम कर्म ही बन्धन का हेतु है। नित्य कर्म करते रहने से मुक्ति का लाभ होता है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा का मूल ग्रन्थ जैमिनी के सूत्र हैं। इन सूत्रों की संख्या 2745 है। इन सूत्रों को बारह अध्यायों में विभाजित किया है। इसलिए इस दर्शन को द्वादशाध्यायी अथवा द्वादशलक्षणी मीमांसा भी कहते हैं। इन बारह अध्यायों में यज्ञ–विचारों का विवरण है। महर्षि जैमिनि ने अन्य चार अध्यायों की रचना भी की है जिन्हे **संकर्ष** या **देवता काण्ड** कहते हैं। इनमें 463 सूत्र हैं। इस तरह जैमिनि ने मीमांसा दर्शन को सोलह अध्यायों में पूर्ण कर दिया है।

जैमिनी के सूत्रों का भाष्य शाबर भाष्य कहते हैं। इनके बाद अनेक भाष्यकार हुए हैं परन्तु उनकी रचनायें अप्राप्त हैं।

मीमांसा के दो सम्प्रदाय– शाबर भाष्य की व्याख्या करने वाले कुमारिल भट्ट और प्रभाकर (गुरु) प्रमुख हैं। इनके नाम से 1. भाट्ट मीमांसा और 2. प्राभाकर मीमांसा–दो सम्प्रदाय चल पड़े। मीमांसा में कर्मकाण्ड की व्याख्या की गयी है। अतः इसे कर्म मीमांसा भी कहते हैं। मीमांसा दर्शन को 1. प्रमाण मीमांसा, 2. तत्व मीमांसा और 3. धर्म मीमांसा के शीर्षकों में विभक्त करके अध्ययन कर सकते हैं।

1. प्रमाण मीमांसा – प्रमा को उत्पन्न करने वाला साधन (कारण) 'प्रमाण' कहा जाता है। जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो तथा किसी अन्य ज्ञान से जो बोधित न हो, दोष रहित हो, उसे ही प्रमाण कहते हैं।

वेदान्त (वेद + अन्त) से तात्पर्य वेद के आद्योपान्त अध्ययन के उपरान्त विकसित विचारधारा से है। इस तरह जीवन का व्यावहारिक ज्ञान उपनिषदों से ही प्राप्त होता है; तथा उपनिषद् वेदो के अन्तिम भाग हैं। इस अर्थ की अभिव्यक्ति वेदान्त शब्द देता है।

वैदिक कालीन साहित्य का निरूपण– मंत्र, संहिताओं, (ऋग्, यजु तथा साम) के अन्तर्गत किया जा सकता है। 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना तथा उपनिषदों में दार्शनिक तथ्यों की व्याख्या आलोचना प्रत्यालोचना विशद रूप से विकसित की गयी।

विद्याध्ययन का प्रारम्भ वेद से शुरू होता है; 'ब्राह्मण' का प्रयोजन ग्रहस्थ में प्रवेश करने के उपरान्त उत्तरदायित्व निर्वाह करने के 'कर्मकाण्डी' शिक्षा के लिए है। 'आरण्यक' का अध्ययन जीवन के वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करने के लिए किया जाता रहा है। इस तरह की शिक्षा से वानप्रस्थी और सन्यासी अपने जीवन के कर्म परिहार और मुक्ति तथा जीवन के अन्तिम उछेश्य को प्राप्त करने की प्रेरणा लेते थे। इस आरण्यक साहित्य का सृजन व विकास अरण्य (वन) में ही उपनिषदों के रूप में हुआ।

उपनिषदों में वेद विद्या का विकसित स्वरूप कहा जा सकता है जो पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हुआ। वेदों के विविध अंगों की शिक्षा व उसका अध्ययन तब ही पूर्ण माना जा सकता है।

वेदान्त साहित्य

वेदान्त दर्शन का साहित्य विशेष प्रयोजन से रचा गया है। विभिन्न युगों व स्थानों पर इन उपनिषदों (वेदान्तों) की रचना भिन्न भिन्न वैदिक शाखाओं प्रशाखाओं में की गयी अतः अनेक उपनिषदों का निर्माण हुआ। विविध प्रश्नों और समस्याओं के समाधानार्थ विविध रूपता भी उनमें आ गयी। उन उपनिषदों के विषयान्तर से उनका विरोध भी होने लगा, इस विरोध के परिहार के लिए सर्वमान्य मतों व सिद्धान्तों का संकलन बादरायण ने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' में किया। यह ब्रह्मसूत्र ही वेदान्त का सर्वोत्तम विकसित साहित्य है।

इसमें चार अध्याय हैं–1. समन्वयाध्याय, 2. अविरोधाध्याय, 3. साधनाध्याय, 4. फलाध्याय।

प्रथम अध्याय में ब्रह्मविषय से सम्बन्धित वेदान्त वाक्यों का समन्वय है। द्वितीय अध्याय में तर्क और स्मृति का समर्थन व अनुमोदन किया गया है। तृतीय अध्याय में वेदान्त के विविध साधनों तथा चतुर्थ अध्याय में इन साधनों (कर्मो) के फल पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

ब्रह्मसूत्र को ही वेदान्त सूत्र, शारीरिक सूत्र अथवा शारीरिक मीमांसा अथवा उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। बादरायण ने उपनिषदों के सन्दर्भ में व्याप्त वैमत्य का परिहार करने का प्रयास किया गया है और अति संक्षेप में इन सूत्रों की रचना की।